हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Historical Background of Hindi)

सुनंदा पाल

हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Historical Background of Hindi)

सुनंदा पाल

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5580-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी विश्व की एक प्रमुख भाषा है एवं भारत की राजभाषा है। केन्द्रीय स्तर पर भारत में दूसरी आधिकारिक भाषा अंग्रेजी है। यह हिंदुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप है, जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक है और अरबी-फारसी शब्द कम हैं। हिंदी संवैधानिक रूप से भारत की राजभाषा और भारत की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। हालांकि, हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है, क्योंकि भारत के संविधान में किसी भी भाषा को ऐसा दर्जा नहीं दिया गया था। चीनी के बाद यह विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा भी है। किन्तु एथनॉलोग के अनुसार हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की दस शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहथा' से हिन्दी का उद्भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहथा को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आस-पास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग

में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुई। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था – वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतः अपभ्रंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करती हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**हिन्दी**	**1**
	लिपि	2
	'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति	2
	हिन्दी एवं उर्दू	3
	हिंदी और उर्दू का अद्वैत	5
	हिन्दी भाषा का इतिहास	7
	हिन्दी और कम्प्यूटर	11
	हिन्दी के संचार माध्यम और हिन्दी सिनेमा	12
	हिन्दी का वैश्विक प्रसार	13
2.	**हिन्दी भाषा का इतिहास**	**15**
	मध्यकालीन हिन्दी	16
	मध्यकालीन कवि	16
	कुम्भनदास	19
	संत रैदास	20
	स्वामी हरिदास	21
	गोविन्दस्वामी	21
	खड़ी बोली का इतिहास	25

सर्वप्रथम प्रयोग 29
खड़ी बोली बहुल क्षेत्र 30
आधुनिक काल 31
3. स्वतंत्रता या आजादी के बाद हिन्दी 32
अध्याय 2 – प्रादेशिक भाषाएँ 35
अध्याय 4 – विशेष निदेश 36
8वीं अनुसूची 37
अध्याय 1 'संघ की भाषा' की समीक्षा 37
अध्याय 2 (प्रादेशिक भाषाएँ) एवं 8वीं अनुसूची की समीक्षा 38
अध्याय 4 'विशेष निदेश' की समीक्षा 39
राजभाषा के विकास से संबंधित संस्थाएँ 45
4. आधुनिक हिन्दी का विकास क्रम 47
5. सूरदास 54
जीवन परिचय 54
सूरदास बनना 54
काव्य-रस एव समीक्षा 68
6. कबीर 76
जीवन परिचय 77
धर्माचार का पालन 81
धार्मिक आन्दोलन 83
कबीर और उनका साहित्य 84
7. भारतीय आर्य भाषा 88
भारतीय आर्यभाषा का विभाजन 88
प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ 88
संस्कृत भाषा 91
मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ 94
आधुनिक भारतीय भाषाओं का परिचय 97
हार्नले द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण 108
8. वैदिक संस्कृत 135
लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद 136

9. भाषा **141**
भाषा का माध्यम 157
10. हिंदी की उपभाषाएँ **165**
पश्चिमी हिंदी 165
पूर्वी हिंदी 168
पश्चिमी और पूर्वी हिंदी की तुलना 175
तुलनात्मक अध्ययन 175
हिन्दी 176

1

हिन्दी

हिन्दी विश्व की एक प्रमुख भाषा है एवं भारत की राजभाषा है। केन्द्रीय स्तर पर भारत में दूसरी आधिकारिक भाषा अंग्रेजी है। यह हिंदुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक है और अरबी-फारसी शब्द कम हैं। हिंदी संवैधानिक रूप से भारत की राजभाषा और भारत की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। हालांकि, हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है, क्योंकि भारत के संविधान में कोई भी भाषा को ऐसा दर्जा नहीं दिया गया था। चीनी के बाद यह विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा भी है। किन्तु एथनॉलोग के अनुसार हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की दस शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

हिन्दी और इसकी बोलियाँ सम्पूर्ण भारत के विविध राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिंदी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। फिजी, मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात की जनता भी हिन्दी बोलती है। फरवरी 2019 में अबू धाबी में हिन्दी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली।

2011 की भारतीय जनगणना में भारत में 162 करोड़ 20 लाख लोगों ने हिन्दी को अपनी मूल भाषा बताया। भारत के बाहर, हिंदी बोलने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका में 8,63,077, मॉरीशस में 6,85,170, दक्षिण अफ्रीका में

8,90,292, यमन में 2,32,760, युगांडा में 1,47,000, सिंगापुर में 5,000, नेपाल में 8 लाख, जर्मनी में 30,000 हैं। न्यूजीलैंड में हिंदी चौथी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है।

इसके अलावा भारत, पाकिस्तान और अन्य देशों में 14 करोड़ 10 लाख लोगों द्वारा बोली जाने वाली उर्दू, मौखिक रूप से हिन्दी के काफी समान है। एक विशाल संख्या में लोग हिंदी और उर्दू दोनों को ही समझते हैं। भारत में हिन्दी, विभिन्न भारतीय राज्यों की 14 आधिकारिक भाषाओं और क्षेत्र की बोलियों का उपयोग करने वाले लगभग 1 अरब लोगों में से अधिकांश की दूसरी भाषा है।

हिन्दी भारत में सम्पर्क भाषा का कार्य करती है और कुछ हद तक पूरे भारत में आमतौर पर एक सरल रूप में समझी जाने वाली भाषा है। हिन्दी का कभी-कभी नौ भारतीय राज्यों के संदर्भ में भी उपयोग किया जाता है, जिनकी आधिकारिक भाषा हिंदी है और हिन्दी भाषी बहुमत है, अर्थात् बिहार, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली का।

'देशी' 'भाखा' (भाषा), 'देशना वचन' (विद्यापति), 'हिंदवी' 'दक्खिनी' 'रेखता' 'आर्यभाषा' (दयानन्द सरस्वती), 'हिंदुस्तानी' 'खड़ी बोली' 'भारती' आदि हिंदी के अन्य नाम हैं, जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में एवं विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुए हैं।

लिपि

हिन्दी को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। इसे नागरी नाम से भी पुकारा जाता है। देवनागरी में 11 स्वर और 33 व्यंजन हैं और अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग होता है तथा इसे बायें से दाईं ओर लिखा जाता है।

'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति

हिन्दी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द सिंधु से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आस-पास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिंधु शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू', हिंदी और फिर 'हिंद' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिंद शब्द पूरे भारत का वाचक हो

गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्द्ईक) 'हिंदीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी' के 'जफरनामा'(1424) में मिलता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपने ' हिंदी एवं उर्दू का अद्वैत ' शीर्षक आलेख में हिंदी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। जैसे–संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफगानिस्तान के बाद सिंधु नदी के इस पार हिंदुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फारसी साहित्य में भी 'हिंद' 'हिंदुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिन्द का'।यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इन्दिके' 'इन्दिका' लैटिन में 'इन्दिया' तथा अंग्रेजी में 'इण्डिया' बन गया। अरबी एवं फारसी साहित्य में भारत (हिंद) में बोली जाने वाली भाषाओं के लिए 'जबान-ए-हिन्दी' पद का उपयोग हुआ है। भारत आने के बाद अरबी-फारसी बोलने वालों ने 'जबान-ए-हिंदी' 'हिंदी जबान' अथवा 'हिंदी' का प्रयोग दिल्ली-आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया। भारत के गैर-मुस्लिम लोग तो इस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-रूप को 'भाखा' नाम से पुकारते थे, 'हिंदी' नाम से नहीं।

हिन्दी एवं उर्दू

हिंदी और उर्दू भारतीय उपमहाद्वीप में बोली जाने वाली दो प्रमुख भाषाएँ हैं। वर्तमान समय में हिन्दी मुख्यत: देवनागरी लिपि में लिखी जाती है जबकि उर्दू मुख्यत: नस्तालीक में। दोनों की सामान्य शब्दावली भी बहुत सीमा तक समान है, विशेष सन्दर्भों में हिन्दी में संस्कृत शब्दों की अधिकता हो जाती है जबकि उर्दू में फारसी और अरबी शब्दों की। बहुत से लोग यह मानते हैं कि नामभेद, लिपिभेद और शैलीभेद के अलावा दोनों एक ही भाषा हैं, अलग-अलग नहीं। प्रसिद्ध समालोचक रामविलास शर्मा का मत है कि इतिहास में हम जितना ही पीछे की तरफ चलते हैं, उतना ही हिन्दी-उर्दू का भेद कम दिखाई देता है। उनका यह भी कहना है कि हिन्दी और उर्दू के व्याकरण समान हैं, उनके

सर्वनाम और क्रियापद एक ही है। ऐसा दो भिन्न भाषाओं में नहीं होता। हिन्दी और बांग्ला के व्याकरण भिन्न-भिन्न हैं।

आधुनिक साहित्य की रचना खड़ी बोली में हुई है। खड़ी बोली हिंदी में अरबी-फारसी के मेल से जो भाषा बनी वह 'उर्दू' कहलाई। मुसलमानों ने 'उर्दू' का प्रयोग छावनी, शाही लश्कर और किले के अर्थ में किया है। इन स्थानों में बोली जानेवाली व्यावहारिक भाषा 'उर्दू की जबान' हुई।

पहले-पहले बोलचाल के लिए दिल्ली के सामान्य मुसलमान जो भाषा व्यवहार में लाते थे वह हिन्दी ही थी। चौदहवीं सदी में मुहम्मद तुगलक जब अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि ले गया तब वहाँ जाने वाले पछाँह के मुसलमान अपनी सामान्य बोलचाल की भाषा भी अपने साथ लेते गए। प्रायः पंद्रहवीं शताब्दी में बीजापुर, गोलकुंडा आदि मुसलमानी राज्यों में साहित्य के स्तर पर इस भाषा की प्रतिष्ठा हुई। उस समय उत्तरभारत के मुसलमानी राज्य में साहित्यिक भाषा फारसी थी। दक्षिण भारत में तेलुगू आदि द्रविड़ भाषाभाषियों के बीच उत्तर भारत की इस आर्य भाषा को फारसी लिपि में लिखा जाता था। इस दखिनी भाषा को उर्दू के विद्वान उर्दू कहते हैं। शुरू में दखिनी बोलचाल की खड़ी बोली के बहुत निकट थी। इसमें हिंदी और संस्कृत के शब्दों का बहुल प्रयोग होता था। छंद भी अधिकतर हिंदी के ही होते थे। पर सोलहवीं सदी से सूफियों और बीजापुर, गोलकुंडा आदि राज्यों के दरबारियों द्वारा दखिनी में अरबी फारसी का प्रचलन धीरे-धीरे बढ़ने लगा। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक इसका रूप प्रधानतया हिंदी या भारतीय ही रहा।

सन् 1700 के आस पास दखिनी के प्रसिद्ध कवि शम्स वलीउल्ला 'वली' दिल्ली आए। यहाँ आने पर शुरू में तो वली ने अपनी काव्यभाषा दखिनी ही रखी, जो भारतीय वातावरण के निकट थी। पर बाद में उनकी रचनाओं पर अरबी-फारसी की परंपरा प्रवर्तित हुई। आरंभ की दखिनी में फारसी प्रभाव कम मिलता है। दिल्ली की परवर्ती उर्दू पर फारसी शब्दावली और विदेशी वातावरण का गहरा रंग चढ़ता गया। हिंदी के शब्द ढूँढकर निकाल फेंके गए और उनकी जगह अरबी फारसी के शब्द बैठाए गए। मुगल साम्राज्य के पतनकाल में जब लखनऊ उर्दू का दूसरा केंद्र हुआ तो उसका हिंदीपन और भी सतर्कता से दूर किया। अब वह अपने मूल हिंदी से बहुत भिन्न हो गई।

हिंदी और उर्दू के एक मिले जुले रूप को हिंदुस्तानी कहा गया है। भारत में अँगरेज शासकों की कूटनीति के फलस्वरूप हिंदी और उर्दू एक दूसरे से दूर

होती गई। एक की संस्कृतनिष्ठता बढ़ती गई और दूसरे का फारसीपन। लिपिभेद तो था। ही। सांस्कृतिक वातावरण की दृष्टि से भी दोनों का पार्थक्य बढ़ता गया। ऐसी स्थिति में अँगरेजों ने एक ऐसी मिश्रित भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया जिसमें अरबी, फारसी या संस्कृत के कठिन शब्द न प्रयुक्त हों तथा जो साधारण जनता के लिए सहजबोध्य हो। आगे चलकर देश के राजनयिकों ने भी इस तरह की भाषा को मान्यता देने की कोशिश की और कहा कि इसे फारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है। पर यह कृत्रिम प्रयास अंततोगत्वा विफल हुआ। इस तरह की भाषा का ज्यादा झुकाव उर्दू की ओर ही था।

हिंदी और उर्दू का अद्वैत

भाषाविद हिन्दी एवं उर्दू को एक ही भाषा मानते हैं। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर अधिकांशत: संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करती है। उर्दू, उर्दू लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर उस पर फारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव अधिक है। व्याकरणिक रूप से उर्दू और हिन्दी में लगभग शत-प्रतिशत समानता है - केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में शब्दावली के स्रोत (जैसा कि ऊपर लिखा गया है) में अंतर होता है। कुछ विशेष ध्वनियाँ उर्दू में अरबी और फारसी से ली गयी हैं और इसी प्रकार फारसी और अरबी की कुछ विशेष व्याकरणिक संरचना भी प्रयोग की जाती है। अत: उर्दू को हिन्दी की एक विशेष शैली माना जा सकता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपने ' हिन्दी एवं उर्दू का अद्वैत ' शीर्षक आलेख में हिन्दी एवं उर्दू की भाषिक एकता का प्रतिपादन किया है साथ ही हिन्दी साहित्य एवं उर्दू साहित्य के अलगाव के कारणों को भी स्पष्ट किया है। प्रोफेसर जैन के अनुसार ' हिन्दी-उर्दू के 'ग्रामर' में कोई अन्तर नहीं है। अपवादस्वरूप सम्बन्धकारक चिन्ह तथा बहुवचन प्रत्यय को छोड़कर। हिन्दी की उपभाषाओं, बोलियों, व्यवहारिक हिन्दी, मानक हिन्दी में बोला जाता है- 'गालिब का दीवान'। उर्दू की ठेठ स्टाइल में कहा जाएगा - ' दीवाने गालिब '। (अब दैनिक हिन्दी समाचार पत्रों में इस प्रकार के प्रयोग धड़ल्ले से हो रहे हैं।) हिन्दी में 'मकान' का अविकारी कारक बहुवचन वाक्य में 'मकान' ही बोला जाएगा। 'उसके तीन मकान'।उर्दू में 'मकान' में 'आत' जोड़कर बहुवचन प्रयोग किया जाता है - 'मकानात'। विकारी कारक बहुवचन वाक्य में प्रयोग होने पर हिन्दी-उर्दू में 'ओं' जोड़कर 'मकानों' ही बोला जाएगा। 'मकानों को गिरा

दो ' – यह प्रयोग हिन्दी में भी होता है तथा उर्दू में भी। कुछ शब्दों का प्रयोग हिन्दी में स्त्रीलिंग में तथा उर्दू में पुल्लिंग में होता है। हिन्दी में ' ताजी खबरें ' तथा उर्दू में 'ताजा खबरें '। इस प्रकार का अन्तर 'पश्चिमी–हिन्दी' तथा 'पूर्वी–हिन्दी' की उपभाषाओं में कई शब्दों के प्रयोग में मिलता है। इनको छोड़कर हिन्दी–उर्दू का ग्रामर एक है। चूँकि इनका ग्रामर एक है इस कारण हिन्दी–उर्दू भाषा की दृष्टि से एक है। इसलिए बोलचाल में दोनों में फर्क नहीं मालूम पड़ता।

'साहित्यिक भाषा' में भाषा के अलावा अन्य बहुत से तत्त्व होते हैं। साहित्य में कथानक होता है, वहाँ किसी की किसी से उपमा (सिमिली) दी जाती है, अलकृंत शैली (ऑरनेट स्टाइल) होती है, प्रतीक रूप में (सिम्बॉलिक) वर्णन होता है, छंद (मीटर) होते हैं। प्रत्येक देश के साहित्य की अपनी परम्परा होती है, कथा, कथानक, कथानक–रूढ़ियों, अलंकार–योजना, प्रतीक–योजना, बिम्ब–योजना, छंद–विधान की विशेषताएँ होती हैं। एक भाषा–रूप से 'हिन्दी–उर्दू' की दो साहित्यिक शैलियाँ (स्टाइल्स) विकसित हुई। एक शैली 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' कहलाती है जिसमें भारतीय प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदों तथा संस्कृत की तत्सम एवं भारत के जनसमाज में प्रचलित शब्दों का प्रयोग होता है तथा जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। 'उर्दू' स्टाइल के अदबकारों ने अरबी एवं फारसी–साहित्य में प्रचलित प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों, छंदो का अधिक प्रयोग किया। जब अरबी–फारसी अदब की परम्परा के अनुरूप या उससे प्रभावित होकर साहित्य लिखा जाता है तो रचना में अरबी साहित्य तथा फारसी–साहित्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का बहुल प्रयोग तो होता ही है, उसके साथ–साथ शैलीगत उपादानों तथा लय और छंद में भी अन्तर हो जाता है जिससे रचना की जमीन और आसमान बदले–बदले नजर आने लगते हैं। यदि कथानक रामायण या महाभारत पर आधारित होते हैं तो 'रचना–वातावरण' एक प्रकार का होता है, यदि कथानक 'लैला–मजनूँ' 'युसुफ–जुलेखा' 'शीरी–फरहाद' की कथाओं पर आधारित होते हैं तो 'रचना–वातावरण' दूसरे प्रकार का होता है।

उपमा 'कमल' से या चाँद से दी जाती है तो पेड़ की एक शाखा पर जिस रंग और खुशबू वाले फूल खिलते हैं, उससे भिन्न रंग और खुशबू वाले फूल पेड़ की दूसरी शाखा पर तब खिलने लगते हैं जब उपमान 'आबे जमजम' 'कोहेनूर' 'शमा' 'बुलबुल' आदि हो जाते है। बोलचाल में तो 'हिन्दी–उर्दू' बोलने वाले सभी लोग रोटी, पानी, कपड़ा, मकान, हवा, दूध, दही, दिन, रात, हाथ, पैर,

कमर, प्यास, प्यार, नींद, सपना आदि शब्दों का समान रूप से प्रयोग करते हैं, मगर जब 'चाँद उगा' के लिए एक शैली के साहित्यकार 'चन्द्र उदित हुआ' तथा दूसरी शैली के अदबकार 'माहताब उरुज हो गया लिखने लगते हैं तो एक ही भाषा-धारा दो भिन्न प्रवाहों में बहती हुई दिखाई पड़ने लगती है। जब साहित्य की भिन्न परम्पराओं से प्रभावित एवं प्रेरित होकर लिखा जाता है तो पानी की उन धाराओं में अलग-अलग शैलियों के भिन्न रंग मिलकर उन धाराओं को अलग-अलग रंगों का पानी बना देते हैं।'

हिन्दी भाषा का इतिहास

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहथा' से हिन्दी का उद्‌भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहथा को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आस-पास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था। - वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं तद्‌भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतः अप्रभंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।

हिन्दी की शैलियाँ

हिन्दी संघ की राजभाषा है।

भाषाविदों के अनुसार हिन्दी के चार प्रमुख रूप या शैलियाँ हैं–

(1) उच्च हिन्दी–हिन्दी का मानकीकृत रूप, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसमें संस्कृत भाषा के कई शब्द है, जिन्होंने फारसी और अरबी के कई शब्दों की जगह ले ली है। इसे शुद्ध हिन्दी भी कहते हैं। आजकल इसमें अंग्रेजी के भी कई शब्द आ गये हैं (खास तौर पर बोलचाल की भाषा में)। यह खड़ीबोली पर आधारित है, जो दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी।

(2) दक्खिनी–उर्दू-हिन्दी का वह रूप जो हैदराबाद और उसके आस-पास की जगहों में बोला जाता है। इसमें फारसी-अरबी के शब्द उर्दू की अपेक्षा कम होते हैं।

(3) रेखता–उर्दू का वह रूप जो शायरी में प्रयुक्त होता था।

(4) उर्दू–हिन्दवी का वह रूप जो देवनागरी लिपि के बजाय फारसी-अरबी लिपि में लिखा जाता है। इसमें संस्कृत के शब्द कम होते हैं, और फारसी-अरबी के शब्द अधिक। यह भी खड़ीबोली पर ही आधारित है।

हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा कहा जाता है। हिन्दुस्तानी मानकीकृत हिन्दी और मानकीकृत उर्दू के बोलचाल की भाषा है। इसमें शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फारसी-अरबी दोनों के शब्द कम होते हैं और तद्भव शब्द अधिक। उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद 343, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है–उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली। इन राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, पंजाब और हिन्दी भाषी राज्यों से लगते अन्य राज्यों में भी हिन्दी बोलने वालों की अच्छी संख्या है। उर्दू पाकिस्तान की और भारतीय राज्य जम्मू और कश्मीर की राजभाषा है, इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार,तेलंगाना और दिल्ली में द्वितीय राजभाषा है। यह लगभग सभी ऐसे राज्यों की सह-राजभाषा है, जिनकी मुख्य राजभाषा हिन्दी है।

हिन्दी की बोलियाँ

हिन्दी का क्षेत्र विशाल है तथा हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं। इनमें से कुछ में अत्यंत उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना भी हुई है। ऐसी

बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। ये बोलियाँ हिन्दी की विविधता हैं और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं, जो न केवल अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

हिन्दी की बोलियों में प्रमुख हैं- अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, बघेली, भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि। किन्तु हिन्दी के मुख्य दो भेद हैं - पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी।

शब्दावली

हिन्दी शब्दावली में मुख्यतः दो वर्ग हैं-

प्रथम वर्ग

तत्सम शब्द- ये वे शब्द हैं जिनको संस्कृत से बिना कोई रूप बदले ले लिया गया है। जैसे–अग्नि, दुग्ध दन्त, मुख। (परन्तु हिन्दी में आने पर ऐसे शब्दों से विसर्ग का लोप हो जाता है जैसे–संस्कृत 'नामः' हिन्दी में केवल 'नाम' हो जाता है।)।

तद्भव शब्द- ये वे शब्द हैं जिनका जन्म संस्कृत या प्राकृत में हुआ था, लेकिन उनमें काफी ऐतिहासिक बदलाव आया है। जैसे– आग, दूध, दाँत, मुँह।

द्वितीय वर्ग

देशज शब्द- देशज का अर्थ है - 'जो देश में ही उपजा या बना हो'।तो देशज शब्द का अर्थ हुआ जो न तो विदेशी भाषा का हो और न किसी दूसरी भाषा के शब्द से बना हो। ऐसा शब्द जो न संस्कृत का हो, न संस्कृत-शब्द का अपभ्रंश हो। ऐसा शब्द किसी प्रदेश (क्षेत्र) के लोगों द्वारा बोल-चाल में यों ही बना लिया जाता है। जैसे- खटिया, लुटिया

विदेशी शब्द- इसके अलावा हिन्दी में कई शब्द अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि से भी आये हैं। इन्हें विदेशी शब्द कहते हैं।

जिस हिन्दी में अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द लगभग पूरी तरह से हटा कर तत्सम शब्दों को ही प्रयोग में लाया जाता है, उसे 'शुद्ध हिन्दी' या 'मानकीकृत हिन्दी' कहते हैं।

विदेशी ध्वनियाँ

ये ध्वनियाँ मुख्यत: अरबी और फारसी भाषाओं से लिये गये शब्दों के मूल उच्चारण में होती हैं। इनका स्रोत संस्कृत नहीं है। देवनागरी लिपि में ये सबसे करीबी देवनागरी वर्ण के नीचे बिन्दु (नुकता) लगाकर लिखे जाते हैं, किन्तु हिन्दी की मानक वर्तनी में विदेशी शब्दों को बिना नुक्ते के ही उनके देसीकृत रूप में लिखने की अनुशंशा की गयी है। इसलिये आजकल हिन्दी में नुक्ता लगाने की प्रथा को लोग अनावश्यक मानने लगे हैं और ऐसा माना जाने लगा है कि नुक्ते का प्रयोग केवल तब किया जाय जब अरबी, उर्दू, फारसी वाले अपनी भाषा को देवनागरी में लिखना चाहते हों।

हिन्दी में ड़ और ढ़ व्यंजन फारसी या अरबी से नहीं लिये गये हैं, न ही ये संस्कृत में पाये जाते हैं। वास्तव में ये संस्कृत के साधारण ड, 'ळ' और ढ के बदले हुए रूप हैं।

व्याकरण

अन्य सभी भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी कर्ता-कर्म-क्रिया वाला वाक्यविन्यास है। हिन्दी मे दो लिंग होते हैं - पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। नपुंसक वस्तुओं का लिंग भाषा-परम्परा के अनुसार पुलिंग या स्त्रीलिंग होता है। क्रिया का रूप, कर्ता के लिंग पर भी निर्भर करता है। हिन्दी में दो वचन होते हैं– एकवचन और बहुवचन। क्रिया, वचन से भी प्रभावित होती है। विशेषण, विशेष्य के पहले लगता है। ने, को, से, के लिए, का, की, के, में, पर, आदि कारक चिह्न प्रयोग किए जाते हैं।

हिन्दी भाषा के विविध रूप

बोलचाल की भाषा
मानक भाषा
सम्पर्क भाषा

भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के मध्य परस्पर विचार-विनिमय का माध्यम बनने वाली भाषा को सम्पर्क भाषा कहा जाता है। अपने राष्ट्रीय स्वरूप में ही हिन्दी पूरे भारत की सम्पर्क भाषा बनी हुई है। अपने सीमित रूप में, प्रशासनिक भाषा के रूप में, हिन्दी के व्यवहार में भिन्न भाषा-भाषियों के बीच परस्पर सम्प्रेषण का माध्यम बनी हुई है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में बोली और समझी जाने

वाली राष्ट्रभाषा हिन्दी है, वह सरकार की राजभाषा भी है तथा सारे देश को एक सूत्र में पिरोने वाली सम्पर्क भाषा भी है। इस तरह अपने तीनों रूपों–राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा – में हिन्दी भाषा अपना दायित्व सहजता से निभा रही है क्योंकि इन तीनों में अन्त:सम्बन्ध हैं।

'राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र में स्वीकृत भाषा होती है जबकि प्रशासनिक कार्यों के व्यवहारों में प्रयुक्त होने वाली 'राजभाषा' घोषित की जाती है तथा सम्पर्क भाषा का विकास प्राकृतिक और स्वैच्छिक आधार पर होता है, जो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सम्पर्क भाषा ही सर्व–स्वीकृत होकर राष्ट्रभाषा बनती है। समृद्ध देशों में राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में एक ही भाषा का प्रयोग होता है, जैसे–जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि देश। इस दृष्टि से भारत भी समृद्ध देश है जहाँ हिन्दी ही अपने तीनों रूपों में प्रयुक्त होती है। विश्व के अनेक देशों में हिन्दी का प्रचार–प्रसार हो रहा है।

राजभाषा

यद्यपि राष्ट्रभाषा के विषय में भारतीय संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है, किन्तु राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहा था। उन्होने 29 मार्च 1918 को इंदौर में आठवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। उस समय उन्होंने अपने सार्वजनिक उद्‌बोधन में पहली बार आह्‌वान किया था। कि हिन्दी को ही भारत की राष्ट्रभाषा का दर्जा मिलना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था। कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था। कि हिन्दी भाषा का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।

आजाद हिन्द फौज का राष्ट्रगान 'शुभ सुख चैन' हिन्दी में था। उनका अभियान गीत 'कदम कदम बढ़ाए जा' भी हिन्दी में था।

हिन्दी और कम्प्यूटर

कम्प्यूटर और इन्टरनेट ने पिछले वर्षों मे विश्व मे सूचना क्रांति ला दी है। आज कोई भी भाषा कम्प्यूटर (तथा कम्प्यूटर सदृश अन्य उपकरणों) से दूर रहकर लोगों से जुड़ी नहीं रह सकती। कम्प्यूटर के विकास के आरम्भिक काल में अंग्रेजी को छोड़कर विश्व की अन्य भाषाओं के कम्प्यूटर पर प्रयोग की दिशा में बहुत कम ध्यान दिया गया जिससे कारण सामान्य लोगों में यह गलत धारणा फैल गयी कि कम्प्यूटर अंग्रेजी के सिवा किसी दूसरी भाषा (लिपि) में काम

ही नहीं कर सकता। किन्तु यूनिकोड (Unicode) के पदार्पण के बाद स्थिति बहुत तेजी से बदल गयी। 19 अगस्त 2009 में गूगल ने कहा कि हर 5 वर्षों में हिन्दी की सामग्री में 94% बढ़ोतरी हो रही है।

हिन्दी की इंटरनेट पर अच्छी उपस्थिति है। गूगल जैसे–सर्च इंजन हिन्दी को प्राथमिक भारतीय भाषा के रूप में पहचानते हैं। इसके साथ ही अब अन्य भाषा के चित्र में लिखे शब्दों का भी अनुवाद हिन्दी में किया जा सकता है। फरवरी 2018 में एक सर्वेक्षण के हवाले से खबर आयी कि इंटरनेट की दुनिया में हिंदी ने भारतीय उपभोक्ताओं के बीच अंग्रेजी को पछाड़ दिया है। यूथ4वर्क की इस सर्वेक्षण रिपोर्ट ने इस आशा को सही साबित किया है कि जैसे–जैसे–इंटरनेट का प्रसार छोटे शहरों की ओर बढ़ेगा, हिंदी और भारतीय भाषाओं की दुनिया का विस्तार होता जाएगा।

इस समय हिन्दी में सजाल (websites), (Blogs), विपत्र (email), गपशप (बींज), खोज (web&search), सरल मोबाइल सन्देश (SMS) तथा अन्य हिन्दी सामग्री उपलब्ध हैं। इस समय अन्तरजाल पर हिन्दी में संगणन के संसाधनों की भी भरमार है और नित नये कम्प्यूटिंग उपकरण आते जा रहे हैं। लोगों मे इनके बारे में जानकारी देकर जागरूकता पैदा करने की जरूरत है ताकि अधिकाधिक लोग कम्प्यूटर पर हिन्दी का प्रयोग करते हुए अपना, हिन्दी का और पूरे हिन्दी समाज का विकास करें। शब्दनगरी जैसी नयी सेवाओं का प्रयोग करके लोग अच्छे हिन्दी साहित्य का लाभ अब इंटरनेट पर भी उठा सकते हैं।

हिन्दी के संचार माध्यम और हिन्दी सिनेमा

हिन्दी सिनेमा का उल्लेख किये बिना हिन्दी का कोई भी लेख अधूरा होगा। मुम्बई मे स्थित 'बॉलीवुड' हिन्दी फिल्म उद्योग पर भारत के करोड़ो लोगों की धड़कनें टिकी रहती हैं। हर चलचित्र में कई गाने होते हैं। हिन्दी और उर्दू (खड़ीबोली) के साथ साथ अवधी, बम्बइया हिन्दी, भोजपुरी, राजस्थानी जैसी बोलियाँ भी संवाद और गानों मे उपयुक्त होती हैं। प्यार, देशभक्ति, परिवार, अपराध, भय, इत्यादि मुख्य विषय होते हैं। अधिकतर गाने उर्दू शायरी पर आधारित होते हैं। कुछ लोकप्रिय चलचित्र हैं– महल (1949), श्री 420 (1955), मदर इंडिया (1957), मुगल-ए-आजम (1960), गाइड (1965), पाकीजा (1972), बॉबी (1973), जंजीर (1973), यादों की बारात (1973), दीवार (1975), शोले (1975), मिस्टर इंडिया (1987), कयामत से

कघ्यामत तक (1988), मैंने प्यार किया (1989), जो जीता वही सिकन्दर (1991), हम आपके हैं कौन (1994), दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे (1995), दिल तो पागल है (1997), कुछ कुछ होता है (1998), ताल (1999), कहो ना प्यार है (2000), लगान (2001), दिल चाहता है (2001), कभी खघ्शी कभी गम (2001), देवदास (2002), साथिया (2002), मुन्ना भाई एमबीबीएस (2003), कल हो ना हो (2003), धूम (2004), वीर-जारा (2004), स्वदेस (2004), सलाम नमस्ते (2005), रंग दे बसंती (2006) इत्यादि।

अब मोबाइल कंपनियां ऐसे हैंडसेट बना रही हैं, जो हिंदी और भारतीय भाषाओं को सपोर्ट करते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियां हिंदी जानने वाले कर्मचारियों को वरीयता दे रही हैं। हॉलीवुड की फिल्में हिंदी में डब हो रही हैं और हिंदी फिल्में देश के बाहर देश से अधिक कमाई कर रही हैं। हिंदी, विज्ञापन उद्योग की पसंदीदा भाषा बनती जा रही है। गूगल, ट्रांसलेशन, ट्रांस्लिटरेशन, फोनेटिक टूल्स, गूगल असिस्टैन्ट आदि के क्षेत्र में नई नई रिसर्च कर अपनी सेवाओं को बेहतर कर रहा है। हिंदी और भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का डिजिटलीकरण जारी है।

फेसबुक और व्हाट्सएप हिंदी और भारतीय भाषाओं के साथ तालमेल बिठा रहे हैं। सोशल मीडिया ने हिंदी में लेखन और पत्रकारिता के नए युग का सूत्रापात किया है और कई जनान्दोलनों को जन्म देने और चुनाव जिताने-हराने में उल्लेखनीय और हैरान करने वाली भूमिका निभाई है। सितम्बर 2018 में प्रकाशित हुई एक अमेरिकी रपट के अनुसार हिन्दी में ट्वीट करना अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है। रपट में कहा गया है कि पिछले वर्ष सबसे अधिक पुनः ट्वीट किए गये 15 सन्देशों में से 11 हिन्दी के थे। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का बाजार इतना बड़ा है कि अनेक कम्पनियाँ अपने उत्पाद और वेबसाइटें हिन्दी और स्थानीय भाषाओं में ला रहीं हैं।

हिन्दी का वैश्विक प्रसार

सन् 1998 के पूर्व, मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं के जो आँकड़े मिलते थे, उनमें हिन्दी को तीसरा स्थान दिया जाता था। सन् 1997 में 'सैन्सस ऑफ इंडिया' का भारतीय भाषाओं के विश्लेषण का ग्रन्थ प्रकाशित होने तथा संसार की भाषाओं की रिपोर्ट

तैयार करने के लिए यूनेस्को द्वारा सन् 1998 में भेजी गई यूनेस्को प्रश्नावली के आधार पर उन्हें भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के तत्कालीन निदेशक प्रोफेसर महावीर सरन जैन द्वारा भेजी गई विस्तृत रिपोर्ट के बाद अब विश्व स्तर पर यह स्वीकृत है कि मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से संसार की भाषाओं में चीनी भाषा के बाद हिन्दी का दूसरा स्थान है। चीनी भाषा के बोलने वालों की संख्या हिन्दी भाषा से अधिक है, किन्तु चीनी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा सीमित है। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा अधिक है, किन्तु मातृभाषियों की संख्या अंग्रेजी भाषियों से अधिक है।

विश्वभाषा बनने के सभी गुण हिन्दी में विद्यमान हैं। बीसवीं शती के अंतिम दो दशकों में हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय विकास बहुत तेजी से हुआ है। हिंदी एशिया के व्यापारिक जगत् में धीरे-धीरे अपना स्वरूप बिंबित कर भविष्य की अग्रणी भाषा के रूप में स्वयं को स्थापित कर रही है। वेब, विज्ञापन, संगीत, सिनेमा और बाजार के क्षेत्र में हिन्दी की मांग जिस तेजी से बढ़ी है वैसी किसी और भाषा में नहीं। विश्व के लगभग 150 विश्वविद्यालयों तथा सैकड़ों छोटे-बड़े केंद्रों में विश्वविद्यालय स्तर से लेकर शोध स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई है। विदेशों में 25 से अधिक पत्र-पत्रिकाएं लगभग नियमित रूप से हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। यूएई के 'हम एफ-एम' सहित अनेक देश हिन्दी कार्यक्रम प्रसारित कर रहे हैं, जिनमें बीबीसी, जर्मनी के डॉयचे वेले, जापान के एनएचके वर्ल्ड और चीन के चाइना रेडियो इंटरनेशनल की हिन्दी सेवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दिसम्बर 2016 में विश्व आर्थिक मंच ने 10 सर्वाधिक शक्तिशाली भाषाओं की जो सूची जारी की है उसमें हिन्दी भी एक है। इसी प्रकार 'कोर लैंग्वेजेज' नामक साइट ने 'दस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषाओं' में हिन्दी को स्थान दिया था। के-इण्टरनेशनल ने वर्ष 2017 के लिये सीखने योग्य सर्वाधिक उपयुक्त नौ भाषाओं में हिन्दी को स्थान दिया है।

हिन्दी को एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित करने और विश्व हिन्दी सम्मेलनों के आयोजन को संस्थागत व्यवस्था प्रदान करने के उद्देश्य से 11 फरवरी 2008 को विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना की गयी थी। संयुक्त राष्ट्र रेडियो अपना प्रसारण हिन्दी में भी करना आरम्भ किया है। हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाये जाने के लिए भारत सरकार प्रयत्नशील है। अगस्त 2018 से संयुक्त राष्ट्र ने साप्ताहिक हिन्दी समाचार बुलेटिन आरम्भ किया है।

2

हिन्दी भाषा का इतिहास

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना गया है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही 'पद्य' रचना प्रारम्भ हो गयी थी। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ट' से हिन्दी का उद्‌भव स्वीकार करते हैं। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसी अवहट्ट को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति, शृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या प्राकृतभाषा हिन्दी में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने 'देसी भाषा' कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग विदेशी मुसलमानों ने किया था। इस शब्द से उनका तात्पर्य 'भारतीय भाषा' का था।

मध्यकालीन हिन्दी

मध्ययुगीन हिंदी में भक्ति आन्दोलन में हिन्दी खूब फली फूली। पूरे देश के भक्त कवियों ने अपनी वाणी को जन-जन तक पहुँचाने के लिये हिन्दी का सहारा लिया हिंदी भारतीय गणराज्य की राजकीय और मध्य भारतीय- आर्य भाषा है। सन 2001 की जनगणना के अनुसार, लगभग 25.79 करोड़ भारतीय हिंदी का उपयोग मातृभाषा के रूप में करते हैं, जबकि लगभग 42.20 करोड़ लोग इसकी 50 से अधिक बोलियों में से एक इस्तेमाल करते हैं। सन 1998 के पूर्व, मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं के जो आँकड़े मिलते थे, उनमें हिन्दी को तीसरा स्थान दिया जाता था।

मध्यकाल में हिंदी का स्वरूप स्पष्ट हो गया तथा उसकी प्रमुख बोलियाँ विकसित हो गईं। इस काल में भाषा के तीन रूप निखरकर सामने आए– ब्रजभाषा, अवधी व खड़ी बोली। ब्रजभाषा और अवधी का अत्यधिक साहित्यिक विकास हुआ तथा तत्कालीन ब्रजभाषा साहित्य को कुछ देशी राज्यों का संरक्षण भी प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त मध्यकाल में खड़ी बोली के मिश्रित रूप का साहित्य में प्रयोग होता रहा। इसी खड़ी बोली का 14वीं सदी में दक्षिण में प्रवेश हुआ, अतः वहाँ पर इसका साहित्य में अधिक प्रयोग हुआ। 18वीं सदी में खड़ी बोली को मुसलमान शासकों का संरक्षण मिला तथा इसके विकास को नई दिशा मिली।

मध्यकालीन कवि

हिंदी भारत ही नहीं, दुनिया में सबसे ज्यादा बोले जाने वाली भाषा है। हिंदी साहित्य का इतिहास देखा जाए तो प्राचीन काल से ही हिंदी भाषा विभिन्न धर्मों और उसके अनुयायियों के लिए महत्त्वपूर्ण रही है। साथ ही साथ अपनी रचना के माध्यम से समाज में भाई चारा और मेल जोल को भी हिंदी ने ही आगे बढ़ाया है। इनमें भी मध्यकालीन कवियों का बड़ा योगदान गिनाया जा सकता है। आज हम आपको ऐसे ही कवियों के बारे में बताएँगे जिनका हिंदी साहित्य में अनमोल योगदान रहा है।

सूरदास

कवि सूरदास को हिंदी साहित्य में भक्तिकाल का श्रेष्ठ कवि माना जाता था। इनकी रचनाएँ हमेशा ही कृष्ण भक्ति से भरी होती थी। सूरदास को वात्सल्य

रस का राजा माना जाता है। उन्होंनेश्रृंगार रस का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। इनका जन्म 1478 ई को रुनकता गांव में हुआ था। इनके जन्म तिथि और जन्म स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। हालाँकि, उनके जन्म और मृत्यु के बारे में भक्त माल और चौरासी वैष्णवन में कुछ जानकारी मिल जाती है। वहीं आईने अकबरी और मुंशियात अबुल फजल में भी सूरदास का उल्लेख किया गया है। भक्ति काल में सूरदास की भक्ति और कविता की प्रशंसा के साथ इनके अंधे होने (सूरदास) का उल्लेख किया गया है। चौरासी वैष्णवन के उल्लेख की मानें तो सूरदास मथुरा और आगरा के बीच में साधु के रूप में रहते थे। वहीं इनकी मुलाकात वल्लभाचार्य के साथ हुई और उनसे प्रभावित होकर सूरदास पदों की रचना करने लगे. इनकी मृत्यु 1580 ई में हुई थी। इनकी एक रचना देखें।

बूझत स्याम कौन तू गोरी।

कहां रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूं ब्रज खोरी।

इस रचना में सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण जी एक नन्ही सी सखी से पूछते हैं कि तुम कौन हो, उसकी मैया से कहते हैं काकी तेरी ये बेटी कहाँ रहती है, कभी ब्रज में देखी नहीं. क्यूँ तेरी बेटी ब्रज में आकर हमारे साथ खेलती है।

ऐसी ही अनेक रचनाओं के साथ महाकवि सूरदास ने भक्तिकाल में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये।

कबीरदास

कबीरदास मध्यकालीन के महानतम कवियों में से एक थे। इनका जन्म काशी में 1398 में हुआ था। इनके जन्म के बारे में भी मतभेद हैं। कबीरदास सफल साधक के साथ एक समाज सुधारक भी थे। वे जीवन और उसके अंदर की भावनाओं को काफी महत्त्वपूर्ण बनाने पर जोर दिया करते थे। इनकी रचनाओं में धर्म का कहीं भी खास जिक्र नहीं था। इनके नाम पर कबीर पंथ सम्प्रदाय भी काफी प्रसिद्ध रहा है। इस समुदाय के लोग इन्हें अवतारी पुरुष मानते थे। उनका मानना था। कि मनुष्य की मौत उसके कर्मों के अनुसार होती है। स्थान विशेष के कारण किसी को कुछ नहीं मिलता, इसलिए अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह मगहर चले गए थे। उस समय लोगों में यह धारणा थी कि काशी में मरने से स्वर्ग मिलता है, तो मगहर में नरक. कबीर का एक दोहा देखिये।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

अर्थात, जब मैं इस संसार में बुराई को देखता था, तब वास्तव में मुझे कोई बुरा नहीं मिला. हाँ, जब मैंने खुद का ईमानदारी से विचार किया, तो मुझसे बड़ी बुराई नहीं मिली. इस दोहे में कबीरदास अपने भीतर की बुराई देखने की सीख देते हैं, बजाय की दूसरों की बुराई देखने के।

ऐसे अनेक प्रेरक दोहे कबीरदास के मौजूद हैं, जिन्हें अपने जीवन में हम उतार सकते हैं।

रसखान

रसखान का असली नाम सैयद इब्राहम था। इनके नाम रखने के पीछे कहा जाता है कि उन्होंने अपना नाम इस कारण रखा, जिससे वे इसका प्रयोग अपनी रचनाओं के लिए कर सकें. रसखान का भक्तिकाल के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनका जन्म 1548 ई में हुआ था। हालाँकि, इनके जन्म के बारे में भी मतभेद है। कुछ विद्वान् इनका जन्म 1615 ई मानते हैं, तो कुछ ने 1630 ई माना है। इनकी अधिकांश रचनाएँ भगवान कृष्ण को समर्पित थी और काव्य में भक्ति और शृंगार दोनों प्रमुख रूप से पाए जाते हैं। रसखान गोस्वामी विट्ठल नाथ के सबसे प्रिय शिष्यों में से एक थे। इन्होंने कृष्ण के लीलागान को अपने काव्य में बखूबी तरह से प्रस्तुत किया था। भगवान कृष्ण के ब्रजभूमि के प्रति मोह माया रसखान की कविताओं में अधिक मिलती है, जो उनकी विशेषता थी।

धुरि भरे अति सोहत स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनी बाजति, पीरी कछोटी।
वा छबि को रसखान बिलोकत, वारत काम कला निधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।

इस मधुर कविता का अर्थ देखिये: धूल से भरे हुए श्याम बहुत सुंदर हैं वैसी ही सुंदर सर पर चोटी बनी हुई है। आँगन में खेलते खाते हुए फिरते हैं (घूम रहे हैं), पैरों में पाजेब बजती है और पीली कछोटी (नितम्ब प्रदेश ढकने के लिए पहना जाने वाला बच्चों का कपड़ा) है। उस छवि को रसखान देखते हैं और उस छवि पर काम कला के भण्डार न्यौछावर करते हैं और गोपियाँ आपस में बात करते हुए बोल रही हैं कि कौवे के भाग्य कितने बड़े हैं कि हरि (भगवान विष्णु यहाँ पर बाल कृष्ण) के हाथों की माखन और रोटी ले गया है।

मीराबाई

मीरा बाई कृष्ण भक्ति की प्रमुख कवयित्री में से एक हैं। उनकी कविताएं कृष्ण भक्ति से सराबोर हैं। इनका जन्म 1498 ई में चोकड़ी गांव में हुआ था। मीराबाई का विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोज राज के साथ हुआ था। मीराबाई बचपन से ही कृष्ण भक्ति में लीन रहती थी। विवाह के कुछ दिनों के बाद ही इनके पति की मृत्यु हो गई थी। भगवन कृष्ण के प्रति मीरा बाई इतनी लीन हो गई थीं कि वह अक्सर मंदिर में जाकर भगवान कृष्ण की मूर्ति के सामने आनंद मग्न होकर नाचती और गाती थीं, उनके इस आचरण से इनके परिवार के सदस्य बहुत नाराज रहा करते थे। कहा जाता है कि इनके इस आचरण से कई बार इन्हें विष देकर मारे जाने का भी प्रयास हुआ था, लेकिन इन पर विष का कोई असर नहीं हुआ। अंत में घर वालों के व्यवहार से दु:खी होकर मीरा बाई वृन्दावन के मंदिरों में चली गई, और वहां घूम कर भजन सुनाने लगी। इन्होंने विभिन्न पदों और गीतों की रचनाएँ की थीं. उनमें नरसी का मायरा, गीत गोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद प्रमुख हैं। देखिये।

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई।
जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई।

मीरा बाई कहती हैं मेरे तो बस श्री कृष्ण हैं, जिन्होंने पर्वत को ऊँगली पर उठाकर गिरधर नाम पाया. उनके अलावा मैं किसी को अपना नहीं मानती. उनके सिर पर मोर के पंख का मुकुट है वही हैं मेरे पति।

कुम्भनदास

कुम्भनदास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि थे। इनका जन्म 1468 ई में गौरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था। इन्होंने सबसे पहले वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। कहा जाता है कि कुम्भनदास ब्रज में गोवर्धन पर्वत के निकट "जमुनावतौ" गांव में रहते थे। इनका मन धन, मान, मर्यादा और सांसारिक इच्छाओं से बहुत दूर था। इनकी ख्याति से एक बार बादशाह अकबर ने इन्हें निमंत्रण पर फतेहपुर सिकरी बुलाया। वहां जाने के बाद अकबर ने इनका बड़ा मान सम्मान किया। पर इसका उनको दु:ख भी रहा, जैसा कि उन्होंने इस पद में लिखा है–

संतन को कहा सीकरी सों काम?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।।

कुभंनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।।

छीतस्वामी

छीतस्वामी का जन्म 1515 ई में मथुरा के एक चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। शुरू से ही इनके घर में जजमानी और पंडागिरी का काम होता था। इनके यजमानों में बीरबल जैसे–लोग प्रमुख थे। पंडा होने के कारण छीतस्वामी पहले बहुत जिद्दी और नटखट स्वभाव के थे। लेकिन जैसे–ही गोस्वामी विट्ठल जी कि सम्पर्क में आये और उनसे दीक्षा ली, वह जल्द ही उनके परमभक्त बन गए. दीक्षा लेने के बाद वह भगवान कृष्ण की भक्ति में लीन हो गए. छीतस्वामी की रचनाओं में व्रज भूमि का प्रेम अधिक पाया जाता है। उनकी प्रसिद्ध रचना

भई अब गिरिधर सों पैहचान।
कपट रूप धरि छल के आयौ, परषोत्तम नहिं जान।।
छोटौ बड़ौ कछू नहिं देख्यौ, छाइ रह्यौ अभियान।
"छीतस्वामि" देखत अपनायौ, विट्ठल कृपा निधान।।

संत रैदास

प्रसिद्ध संत रैदास का जन्म 1388 को बनारस के चर्मकार कुल में हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म 1398 मानते हैं। इनका असली नाम संत रविदास था। इनके पिता का नाम रग्घु और माता का नाम घुरविनिया था। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति में रहकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। जूते बनाने का काम उनका पुराना व्यवसाय था। जिसे वे बड़ी खुशी से करते थे। संत रैदास अपने काम को पूरी लगन और मेहनत से करते थे। मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा जैसे–दिखावे में रैदास विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था। कि आपसी भाई चारा ही सच्चा धर्म है। संत रैदास अपनी रचनाओं में सरल और व्यवहारिक भाषा का प्रयोग करते थे। उनकी रचनाओं में राजस्थानी, उर्दू फारसी और खड़ी बोली शब्द का प्रमुख मिश्रण है।

"कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा।
वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।"

उनका विश्वास था। कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास सखी संप्रदाय के प्रवर्तक थे, जिसे हरिदासी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। स्वामी हरिदास अकबर के समय के प्रसिद्ध सिद्ध भक्त माने जाते थे। वे वैष्णव भक्त होने के साथ उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी माने जाते थे। कहा जाता है कि इनके संगीत से अकबर इतना प्रभावित हुआ था। कि वह इनसे मिलने वृन्दावन चला आया था। प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके प्रमुख शिष्य थे। इनके पदों में इनकी वाणी सरस और भावुक मिलती है। इनका प्रसिद्ध पद निम्न हैं–

तिनका बयारि के बस।
ज्यौं भावै त्यौं उडाइ लै जाइ आपने रस॥
ब्रह्मलोक सिवलोक और लोक अस।
कह 'हरिदास बिचारि देख्यो, बिना बिहारी नहीं जस।

गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामी वल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध कवियों में एक थे। इनका जन्म राजस्थान के आँतरी गांव में 1505 ई को हुआ था। इनके गुरु का नाम गोस्वामी विट्ठल नाथ था। इनके पदों से गोस्वामी विट्ठल नाथ जी इतना प्रभावित हुए कि इन्हें अष्टछाप में शामिल कर लिया. कहा जाता है कि गोविन्द स्वामी गोवर्धन के पर्वत पर रहते थे। वहां पर उन्होंने कदम्बों का एक उपवन लगाया था। आज भी यह 'गोविन्दस्वामी की कदंबखड़ी' के नाम से जाना जाता है। कवि होने के साथ साथ गोविन्द स्वामी अच्छा गायन भी करते थे। कहा जाता है कि इनका गायन सुनने के लिए तानसेन भी आया करता था। इनके पदों में भगवान कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन प्रमुखता से किया गया है।

'आओ मेरे गोविंद, गोकुल चंदा।
भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट, बदन दिखाय देहु आनंदा।।
गायन कीं आवन की बिरियां, दिन मनि किरन होति अति मंदा।
आए तात मात छतियों लगे, 'गोबिंद' प्रभु ब्रज जन सुख कंदा।।"

हितहरिवंश

हितहरिवंश का जन्म 1502 ई में मथुरा के पास बादगाँव में हुआ था। वे राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी थे। इनके जन्म को लेकर मतभेद बना है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपाल प्रसाद शर्मा ने 1473 ई को इनका जन्म

माना है। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। कहा जाता है कि हित हरिवंश पहले माध्व संप्रदाय के गोपाल भट्ट के शिष्य थे। एक दिन सपने में आकर राधिका जी ने इन्हें मंत्र दिया, जिसके बाद इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया। हित हरिवंश 1525 ई में राधाबल्लभ की मूर्ति को वृंदावन में स्थापित कर वहीं रहने लगे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के साथ साथ काव्य के अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा बड़ी सरस है। राधासुधानिधि, हित चौरासी इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

रहीम

रहीम का जन्म 1553 में बैरम खान के घर हुआ था। हिंदी के प्रसिद्ध कवि रहीम का अकबर के दरबार में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे अकबर के नवरत्नों में से एक थे। कवि होने के साथ वह एक सेना पति और विद्वान थे। साथ ही उन्हें तुर्की,अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी की भी जानकारी थी। कहा जाता है कि गुजरात के युद्ध में इनके कौशल और पराक्रम को देखकर अकबर ने इन्हें 'खानखाना' की उपाधि प्रदान की थी। रहीम के काव्य में नीति, श्रृंगार और भक्ति भाव मिलते हैं। रहीम दोहावली, रहीम सतसई, मदनाश्टक, रहीम रत्नावली आदि इनकी कई रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध रही देखें एक दोहा।

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

अर्थात जो व्यक्ति योग्य और अच्छे चरित्र का होता है उस पर कुसंगति भी प्रभाव नहीं डाल सकती. जैसे–जहरीला नाग अगर चन्दन के वृक्ष पर लिपट जाए, तब भी उसे जहरीला नहीं बना सकता। इन कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह साबित कर दिया कि साहित्य से समाज में बड़ा बदलाव लाया जा सकता है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं का जो बीज बोया है, उसका फल वर्तमान से लेकर भविष्य तक में मिलता रहने वाला है। कहना गलत नहीं होगा कि ऐसे ही संवेदनशील कवियों के बल पर ही आज हिंदी साहित्य समृद्ध है।

ब्रजभाषा

हिंदी के मध्यकाल में मध्य देश की महान् भाषा परम्परा के उत्तरादायित्व का पूरा निर्वाह ब्रजभाषा ने किया। यह अपने समय की परिनिष्ठित व उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा थी, जिसको गौरवान्वित करने का सर्वाधिक श्रेय हिंदी के

कृष्णभक्त कवियों को है। पूर्व मध्यकाल (अर्थात् भक्तिकाल) में कृष्णभक्त कवियों ने अपने साहित्य में ब्रजभाषा का चरम विकास किया। पुष्टि मार्ग/शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के सूरदास (सूरसागर), नंददास, निम्बार्क संप्रदाय के श्री भद्ध, चैतन्य सम्प्रदाय के गदाधर भट्ट, राधावल्लभ सम्प्रदाय के हित हरिवंश (श्रीकृष्ण की बाँसुरी के अवतार) एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष कवियों में रसखान, मीराबाई आदि प्रमुख कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा के साहित्यिक विकास में अमूल्य योगदान दिया। इनमें सर्वप्रमुख स्थान सूरदास का है, जिन्हें 'अष्टछाप का जहाज' कहा जाता है। उत्तर मध्यकाल (अर्थात् रीतिकाल) में अनेक आचार्यों एवं कवियों ने ब्रजभाषा में लाक्षणिक एवं रीति ग्रंथ लिखकर ब्रजभाषा के साहित्य को समृद्ध किया। रीतिबद्ध कवियों में केशवदास, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, भिखारी दास, सेनापति, आदि तथा रीतिमुक्त कवियों में घनानंद, आलम, बोधा आदि प्रमुख हैं। (ब्रजबुलिकृबंगाल में कृष्णभक्त कवियों के द्वारा प्रचारित भाषा का नाम।)

अवधी भाषा

अवधी को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय सूफी प्रेममार्गी कवियों को है। कुतबन ('मृगावती'), जायसी ('पद्मावत'), मंझन ('मधुमालती'), आलम ('माधवानल कामकंदला'), उसमान ('चित्रावली'), नूर मुहम्मद ('इन्द्रावती'), कासिमशाह ('हंस जवाहिर'), शेख निसार ('यूसुफ जुलेखा'), अलीशाह ('प्रेम चिंगारी') आदि सूफी कवियों ने अवधी को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। इनमें सर्वप्रमुख जायसी थे। अवधी को रामभक्त कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, विशेषकर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना बैसवाड़ी अवधी में कर अवधी भाषा को जिस साहित्यिक ऊँचाई पर पहुँचाया, वह अतुलनीय है। मध्यकाल में साहित्यिक अवधी का चरमोत्कर्ष दो कवियों में मिलता है, जायसी और तुलसीदास। जायसी के यहाँ जहाँ अवधी का ठेठ ग्रामीण रूप मिलता है, वहाँ तुलसी के यहाँ अवधी का तत्सममुखी रूप है। (गोहारी/गोयारी– बंगाल में सूफियों द्वारा प्रचारित अवधी भाषा का नाम।)

खड़ी बोली

मध्यकाल में खड़ी बोली का मुख्य केन्द्र उत्तर से बदलकर दक्कन में हो गया। इस प्रकार, मध्यकाल में खड़ी बोली के दो रूप हो गए– उत्तरी हिंदी व

दक्कनी हिंदी। खड़ी बोली का मध्यकाल रूप कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, रज्जब आदि संतों, गंग की 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' रहीम के 'मदनाष्टक' आलम के 'सुदामा चरित' जटमल की 'गोरा बादल की कथा' वली, सौदा, इन्शा, नजीर आदि दक्कनी एवं उर्दू के कवियों, 'कुतुबशतम' (17वीं सदी), 'भोगलू पुराण' (18वीं सदी), संत प्राणनाथ के 'कुलजमस्वरूप' आदि में मिलता है।

हिंदी भारतीय गणराज की राजकीय और मध्य भारतीय- आर्य भाषा है। सन 2001 की जनगणना के अनुसार, लगभग 25.79 करोड़ भारतीय हिंदी का उपयोग मातृभाषा के रूप में करते हैं, जबकि लगभग 42.20 करोड़ लोग इसकी 50 से अधिक बोलियों में से एक इस्तेमाल करते हैं। सन 1998 के पूर्व, मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं के जो आँकड़े मिलते थे, उनमें हिन्दी को तीसरा स्थान दिया जाता था।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से खड़ी बोली शब्द का प्रयोग दिल्ली - मेरठ के समीपस्थ ग्रामीण समुदाय की ग्रामीण बोली के लिए होता है। ग्रियर्सन ने इसे 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' तथा सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। खड़ी बोली नागरी लिपि में ही लिखी जाती है। हिंदी की रूपरेखा जानने के लिए खड़ी बोली का ज्ञान अति आवश्यक है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से खड़ी बोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी की मूलधार बोली है। साहित्यक सन्दर्भ में कभी-कभी अवधी, ब्रज आदि बोलियों के साहित्य से अलगाव करने के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य को 'खड़ी बोली सहित्य' से अभिहित किया जाता है और इस प्रसंग में खड़ी बोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' का समानार्थक हो जाता है। प्रथम को हम 'खड़ी बोली' शब्द का विशिष्ट अर्थ और द्वितीय को सामान्य अर्थ कह सकते हैं। किंतु 'खड़ी बोली' शब्द के आरम्भिक अर्थ तथा नामकरण और उसके रूप, अर्थ, प्रयोग के विकास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतवैभिन्न्य दिखाई पड़ता है। 'खड़ी बोली' नाम की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। उन विद्वानों की विचार-धाराओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं-

कुछ विद्वान् 'खड़ी बोली' नाम को ब्रजभाषा-सापेक्ष्य मानते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि लल्लू लालजी (1803 ई.) से बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषा की मधुर मिठास की तुलना में उस बोली को दिया गया था, जिससे

कालांतर में स्टैण्डर्ड हिन्दी और उर्दू का विकास हुआ। ये विद्वान् 'खड़ी' शब्द से कर्कशता, कटुता, खरापन, खड़ापन आदि अर्थ लेते हैं।

कुछ लोग इसे उर्दू - सापेक्ष्य मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत, 'शुद्ध' ग्रामीण ठेठबोली मानते हैं।

कुछ खड़ी का अर्थ 'सुस्थिर, सुप्रचलित, सुसंस्कृत, 'परिष्कृत या परिपक्व से मानते हैं।

कुछ लोग उत्तरी भारत की ओकारांत ब्रज आदि बोलियों को 'पड़ी बोली' और उसके विरोध में इसे 'खड़ी बोली' मानते हैं।

जब कि कुछ लोग रेखता शैली को 'पड़ी' और इसे 'खड़ी' मानते हैं।

खड़ी बोली का इतिहास

भारतेन्दु पूर्व युग

खड़ी बोली गद्य के आरम्भिक रचनाकारों में फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर दो रचनाकारों– सदासुख लाल 'नियाज' (सुखसागर) व इंशा अल्ला खाँ (रानी केतकी की कहानी) तथा फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता के दो भाषा मुंशियों– लल्लू लालजी (प्रेम सागर) व सदल मिश्र (नासिकेतोपाख्यान) के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु पूर्व युग में मुख्य संघर्ष हिंदी की स्वीकृति और प्रतिष्ठा को लेकर था। इस युग के दो प्रसिद्ध लेखकों- राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' व राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी के स्वरूप निर्धारण के सवाल पर दो सीमान्तों का अनुगमन किया। राजा शिव प्रसाद ने हिंदी का गँवारुपन दूर कर उसे उर्दू-ए-मुअल्ला बना दिया तो राजा लक्ष्मण सिंह ने विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थन किया।

भारतेन्दु युग (1850 ई.-1900 ई.)

इन दोनों के बीच सर्वमान्य हिंदी गद्य की प्रतिष्ठा कर गद्य साहित्य की विविध विधाओं का ऐतिहासिक कार्य भारतेन्दु युग में हुआ। हिंदी सही मायने में भारतेन्दु के काल में 'नई चाल में ढली' और उनके समय में ही हिंदी के गद्य के बहुमुखी रूप का सूत्रपात हुआ। उन्होंने न केवल स्वयं रचना की बल्कि अपना एक लेखक मंडल भी तैयार किया, जिसे 'भारतेन्दु मंडल' कहा गया। भारतेन्दु युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि गद्य रचना के लिए खड़ी बोली

को माध्यम के रूप में अपनाकर युगानुरूप स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया। लेकिन पद्य रचना के मसले में ब्रजभाषा या खड़ी बोली को अपनाने के सवाल पर विवाद बना रहा, जिसका अन्त द्विवेदी के युग में जाकर हुआ।

द्विवेदी युग (1900 ई.-1920 ई.)

खड़ी बोली और हिंदी साहित्य के सौभाग्य से 1903 ई. में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का भार सम्भाला। वे सरल और शुद्ध भाषा के प्रयोग के हिमायती थे। वे लेखकों की वर्तनी अथवा त्रुटियों का संशोधन स्वयं करते चलते थे। उन्होंने हिंदी के परिष्कार का बीड़ा उठाया और उसे बखूबी अन्जाम दिया। गद्य तो भारतेन्दु युग से ही सफलतापूर्वक खड़ी बोली में लिखा जा रहा था, अब पद्य की व्यावहारिक भाषा भी एकमात्र खड़ी बोली में प्रतिष्ठित होनी लगी। इस प्रकार ब्रजभाषा, जिसके साथ में 'भाषा' शब्द जुड़ा हुआ है, अपने क्षेत्र में सीमित हो गई अर्थात् 'बोली' बन गई। इसके मुकाबले में खड़ी बोली, जिसके साथ 'बोली' शब्द लगा है, 'भाषा बन गई' और इसका सही नाम हिंदी हो गया। अब खड़ी बोली दिल्ली के आस-पास की मेरठ-जनपदीय बोली नहीं रह गई, अपितु यह समस्त उत्तरी भारत के साहित्य का माध्यम बन गई। द्विवेदी युग में साहित्य रचना की विविध विधाएँ विकसित हुई।। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्याम सुन्दर दास, पद्म सिंह शर्मा, माधव प्रसाद मिश्र, पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के अवदान विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

इसी दौरान वर्ष 1918 में इन्दौर में गांधी जी की अध्यक्षता में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' आयोजित हुआ और उसी में पारित एक प्रस्ताव के द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा मानी गयी। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार प्रसार के लिये दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की भी स्थापना हुई जिसका मुख्यालय मद्रास में था।

छायावाद युग

(1920 ई.-1936 ई. एवं उसके बाद) साहित्यिक खड़ी बोली के विकास में छायावाद युग का योगदान काफी महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा और राम कुमार आदि ने महती योगदान किया। इनकी रचनाओं को देखते हुए यह कोई नहीं कह सकता कि खड़ी बोली सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त करने में ब्रजभाषा से कम समर्थ है। हिंदी में अनेक भाषायी गुणों का समावेश

हुआ। अभिव्यजंना की विविधता, बिंबों की लाक्षणिकता, रसात्मक लालित्य छायावाद युग की भाषा की अन्यतम विशेषताएँ हैं। हिंदी काव्य में छायावाद युग के बाद प्रगतिवाद युग (1936 ई.–1946 ई.) प्रयोगवाद युग (1943) आदि आए। इस दौर में खड़ी बोली का काव्य भाषा के रूप में उत्तरोत्तर विकास होता गया।

पद्य के ही नहीं, गद्य के सन्दर्भ में भी छायावाद युग साहित्यिक खड़ी बोली के विकास का स्वर्ण युग था। कथा साहित्य (उपन्यास व कहानी) में प्रेमचंद, नाटक में जयशंकर प्रसाद, आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जो भाषा–शैलियाँ और मर्यादाएँ स्थापित कीं, उनका अनुसरण आज भी किया जा रहा है। गद्य साहित्य के क्षेत्र में इनके महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि गद्यदृसाहित्य के विभिन्न विधाओं के इतिहास में कालों का नामकरण इनके नाम को केन्द्र में रखकर ही किया गया है। जैसे–उपन्यास के इतिहास में प्रेमचंददृ पूर्व युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युगय नाटक के इतिहास में प्रसाददृ पूर्व युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युगय आलोचना के इतिहास में शुक्लदृ पूर्व युग, शुक्ल युग, शुक्लोत्तर युग।

खड़ी बोली की प्रासंगिकता

वास्तव में 'खड़ीबोली' में प्रयुक्त 'खड़ी' शब्द गुण्बोधक विशेषण है और किसी भाषा के नामकरण में गुण–अवगुण–प्रधान दृष्टिकोण अधिकांशः अन्य भाषा–सापेक्ष्य होती है। अपभ्रंश और उर्दू आदि इसी श्रेणी के नाम हैं, अतएव 'खड़ी' शब्द अन्य भाषा सापेक्ष्य अवश्य है, किंतु इसका मूल खड़ी है अथवा खरी? और इसका प्रथम मूल अर्थ क्या है? इसके लिए शब्द के इतिहास की खोज आवश्यक है। बोली के अर्थ में इस नाम का उल्लेख हमें मध्यमकाल में कहीं नहीं मिलता है। निश्र्वित रूप से इस शब्द का प्रयोग 19वीं शती के प्रथम दशाब्द में लल्लूजी लाल ने 2 बार, सदल मिश्र ने 2 बार, गिलकाइस्ट ने 6 बार किया है।

लल्लूलाल जी और सदल मिश्र ने 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नागरी लिपी में लिखा था। इन ग्रंथों में खड़ी बोली का शब्द मिलता है, जिसका उच्चारण निश्चय ही खड़ी रहा होगा। इस प्रकार हिंदू लेखकों में खड़ीबोली शब्द ही प्रचलित रहा होगा, किंतु रोमनलिपि में 'प्रेमसागर' के मुखपृष्ठ पर खरी (kharee) ही मुद्रित है। इसी से हिंदी 'खड़ी' को खरी

लिखा गया है। सम्भवत: विदेशी अंग्रेजों में 'खरी' शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ। आज का सामान्य अंग्रेज 'खड़ी' शब्द का उच्चारण खरी के आस-पास ही करेगा। भारतीय ध्वनि विकास में भी र और ड़ ध्वनि में परस्पर विनिमय होता रहा है। सम्भवत: उच्चारण की दृष्टि से 'खड़ी' और 'खरी' उस समय बहुत ही निकट के शब्द थे। इस शब्द के वास्तविक अर्थ ज्ञान के लिए हमें लल्लूलाल जी, सदल मिश्र और गिलक्राइस्ट के उद्धरणों पर पुन: गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। इन उद्धरणों से किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रजभाषा की अपेक्षा अधिक 'कर्कश' 'कटु' होने के कारण इस बोली को यह नाम दिया गया। यदि उन्नीसवीं शती से बहुत पूर्व ही ब्रजभाषा के विरोध में यह नाम प्रचलित रहा होता तो स्टैण्डर्ड उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी सबके लिए यह शब्द प्रयुक्त होता, क्योंकि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से तीनों की मूलाधार बोली यही है और 'प्रेमसागर' तथा 'बागो बहार' दोनों को खड़ी बोली का ग्रंथ कहा जाता है, किंतु ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया। स्वयं लल्लूलाल जी ने 'लाल चंद्रिका' की भूमिका में अपने ग्रंथों की भाषा के तीन भेद किये हैं-

1. ब्रज
2. खड़ी बोली
3. रेखते की बोली (उर्दू)।

यदि खड़ी बोली को ब्रजभाषा सापेक्ष्य समझते तो लल्लूलाल जी अपने ग्रंथों की भाषा के दो ही भाग करते। वास्तव में खड़ी बोली के लिए कर्कश, कटु आदि अर्थ भारतेंदु युग की देन है, जबकि हिंदी कविता के लिए ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में प्रतियोगिता हो रही थी। सम्भवत: ब्रजभाषा पक्षवालों ने उसी युग में 'खड़ीबोली' का इस प्रकार अर्थ किया होगा। बेली महोदय के अनुसार 'खड़ी' ही मूल शब्द है, 'खरी' नहीं, जो खड़ा का स्त्रीलिंग रूप है। 'खड़ी' शब्द का अर्थ है 'उठी' और जब यह शब्द किसी भाषा के लिए प्रयुक्त होता होगा, तो तब इसका अर्थ 'प्रचलित' रहा होगा। इस प्रकार इसके अनुसार 'खड़ी' का अर्थ है 'परिपक्व' 'प्रचलित' या सुस्थिर। जयशंकर प्रसाद ने अपनी काव्य भाषा में खड़ी बोली का व्यापक रूप से प्रयोग किया है।

चंद्रबली पाण्डे ने अपने लेख 'खड़ी बोली की निरुक्ति' में बोली ले परिपक्व, प्रचलित अर्थ का खंडन करते हुए यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है कि खड़ी बोली सदल मिश्र की निजी या उनके यहाँ की प्रचलित बोली नहीं है। किंतु उनका खंडन मान्य नहीं, क्योंकि इस बोली का प्रचलन हिंदवी रूप में

अंत:प्रांतीय व्यवहार के लिए बहुत पहले से था, अन्यथा सिंध, गुजरात के स्वामी प्राणनाथ (कुलजम स्वरूप) और लालदास (वीतक), पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी (योगवाशिष्ठ), राजस्थान के दौलतराम (पद्मपुराण) और बिहार के सदल मिश्र इस बोली में रचना नहीं कर सकते। अतएव 'खड़ी' शब्द का अर्थ परिपक्व, प्रचलित मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। साथ ही इस बोली को 'खड़ी' इसलिए मानना कि इसकी तुलना में उत्तर प्रदेश की 'ब्रजभाषा' आदि अन्य बोलियाँ 'पड़ी' बोलियाँ थीं, भी न्यायसंगत नहीं है। किंतु बेली का अर्थ भी पूर्ण नहीं है। खड़ी शब्द का अर्थ केवल 'स्टैण्डर्ड' 'करेण्ट' अर्थ लेने से उर्दू से उसका स्पष्ट अलगाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि हिंदी सामान्य अर्थ की उर्दू शैली दिल्ली, आगरा में भली भाँति प्रचलित और सुस्थिर थी, किंतु उर्दू का झुकाव 'यामिनी' भाषा अर्थात् फारसी और अरबी की ओर अधिक था, अतएव मूल रूप से हिंदी या हिंदुस्तानी होने पर भी गिलक्राइस्ट के पूर्व हेलहेडने इस हिंदुस्तानी को 'मिश्रित हिंदुस्तानी' कहा था, जब कि उसके अनुसार हिंदुस्तानी की हिंदवी शैली शुद्ध हिंदुस्तानी थी अथवा शुद्ध हिन्दी थी। 'प्रेमसागर' के प्रथम तीन संस्करणों के मुखपृष्ठ पर मुद्रित pure Hindee language or Kharee Bolee (1805ई.), पुन: इसके संस्करण में Hinduwee(1811ई.) और तीसरे संस्करण में Hindee(1842ई.) शब्द इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

सर्वप्रथम प्रयोग

खड़ी बोली नाम सर्वप्रथम हिंदी या हिंदुस्तानी की उस शैली के लिए दिया गया जो उर्दू की अपेक्षा अधिक शुद्ध हिंदी (भारतीय) थी और जिसका प्रयोग संस्कृत परम्परा अथवा भारतीय परम्परा से सम्बंधित लोग अधिक करते थे। अधिकांशत: वह नागरीलिपि में लिखी जाती थी। 1805ई. से हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू शब्द गिलक्राइस्टके अनुसार समानार्थक थे, अतएव इनसे अलगाव सिद्ध करने के लिए 'शुद्ध' (pure) विशेषण जोड़ने की आवश्यकता पड़ी तथा खड़ीबोली नाम सार्थक हुआ। इस प्रकार खड़ीबोली का वास्तविक अर्थहोगा शुद्ध, परिष्कृत या परिनिष्ठित प्रचलित भाषा। उर्दू भी दिल्ली आगरा की भाषा थी, किंतु वह यामिनी मिश्रित थी, अतएव वह दिल्ली आगरा की खड़ी और प्रचलित बोली नहीं थी। खड़ी बोली शब्द का अर्थ 1823 ई. के बाद हिंदी हुआ। यही करण है कि 'प्रेमसागर' के 1842 ई. के संस्करण में हिंदी शब्द ही मुखपृष्ठ पर मुद्रित है।

खड़ी बोली शब्द का प्रयोग आरम्भ में उसी भाषा शैली के लिए हुआ, जिसे 1823 ई. के बाद 'हिंदी' कहा गया। किंतु जब प्राचीन या प्रचलित शब्द ने 'खड़ी बोली' का स्थान ले लिया तो खड़ी बोली शब्द उस शैली के लिए बहुत कम प्रयुक्त हुआ, केवल साहित्यिक संदर्भ में कभी कभी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार जब यह मत प्रसिद्ध हो गया कि हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी की मूलाधार बोली ब्रजभाषा नहीं वरन् दिल्ली और मेरठ की जनपदीय बोली है, तब उस बोली का अन्य उपयुक्त नाम प्रचलित ना होने के कारण उसे 'खड़ी बोली' ही कहा जाने लगा। इस प्रकार खड़ी बोली का प्रस्तुत भाषाशास्त्रीय प्रयोग विकसित हुआ। प्राचीन कुरु जनपद से सम्बंध जोड़कर कुछ लोग अब इसे 'कौरवी बोली' भी कहने लगे हैं, किंतु जब तक पूर्णरूप से यह सिद्ध ना हो जाए कि इस बोली का विकास उस जनपद में प्रचलित अपभ्रंश से ही हुआ है तब तक इसे कौरवी कहना वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं।

खड़ी बोली बहुल क्षेत्र

खड़ी बोली निम्न लिखित स्थानों के ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है- मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला, कलसिया और पटियाला के पूर्वी भाग, रामपुर और मुरादाबाद। बाँगरू, जाटकी या हरियाणवी एक प्रकार से पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली ही हैं, जो दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार और पटियाला, नाभा, झींद के ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है। खड़ी बोली क्षेत्र के पूर्व में ब्रजभाषा, दक्षिण पूर्व में मेवाती, दक्षिण पश्चिम में पश्चिमी राजस्थानी, पश्चिम में पूर्वी पंजाबी और उत्तर में पहाड़ी बोलियों का क्षेत्र है। बोली के प्रधानत: दो रूप मिलते हैं-

- पूर्वी या पूर्वी खड़ी बोली
- पश्चिमी या पश्चिमी खड़ी बोली।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के आदि प्रयोग 'गोरखवाणी' तथा बाबा फरीद शररगंज की बाणियों में मिलते हैं। मुसलमानों ने इस बोली को अपनाकर इसे अंत:प्रांतीय रूप दिया। निर्गुण संतों ने भी इसके प्रचार में सहयोग दिया। धीरे धीरे इस बोली में व्याकरण के क्षेत्र में तथा शब्द कोश में अन्य भाषाओं का मिश्रण होने लगा, जिससे हिंदी (आधुनिक अर्थ), उर्दू और हिंदुस्तानी का विकास हुआ। आज इस बोली के कुछ लोकगीत भी मिलते हैं, जो प्रकाशित भी हुए हैं।

आधुनिक काल

स्वतन्त्रता संग्राम के समय हिन्दी

भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में हिन्दी और हिन्दी पत्रकारिता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। महात्मा गांधी सहित अनेक राष्ट्रीय नेता हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने लगे थे।

स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी

भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी को भारत की राजभाषा घोषित किया गया।

इंटरनेट युग में हिन्दी

हिंदी भाषा की जितनी मांग है, इंटरनेट पर उतनी उपलब्धता नहीं है। लेकिन जिस रफ्तार से भारत में इंटरनेट का विकास हुआ है उसी तरह से हिंदी भी इंटरनेट पर छा रही है। समाचारपत्र से लेकर हिंदी ब्लॉग तक अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। साधुवाद तो गूगल को भी जाता है जिसने हिंदी में खोज करने की जगह उपलब्ध कराई। इतना ही नहीं विकिपीडिया ने भी हिंदी की महत्ता को समझते हुए कई सारी सामग्री का सॉफ्टवेयर अनुवाद हिंदी में प्रदान करना शुरू कर दिया जिससे हिंदी भाषी को किसी भी विषय की जानकरी सुलभ हुई। आजकल हिंदी भी इंटरनेट की एक अहम् लोकप्रिय भाषा बन कर उभरी है। मेरा मानना है जब लोग अपने विचार और लेखन हिंदी भाषा में इंटरनेट पर ज्यादा करेंगे तो वह दिन दूर नहीं की सारी सामग्री हिंदी में भी इंटरनेट पर मिलने लगेगी।

3

स्वतंत्रता या आजादी के बाद हिन्दी

राजभाषा का शाब्दिक अर्थ है-राज-काज की भाषा। जो भाषा देश के राजकीय कार्यों के लिए प्रयुक्त होती है, वह 'राजभाषा' कहलाती है। राजाओं-नवाबों के जमाने में इसे 'दरबारी भाषा' कहा जाता था। राजभाषा सरकारी कामकाज चलाने की आवश्यकता की उपज होती है।

स्वशासन आने के पश्चात् राजभाषा की आवश्यकता होती है। प्राय: राष्ट्रभाषा ही स्वशासन आने के पश्चात् राजभाषा बन जाती है। भारत में भी राष्ट्रभाषा हिन्दी को राजभाषा का दर्जा प्राप्त हुआ। राजभाषा एक संवैधानिक शब्द है। हिन्दी को 14 सितम्बर 1949 ई. को संवैधानिक रूप से राजभाषा घोषित किया गया। इसीलिए प्रत्येक वर्ष 14 सितम्बर को 'हिन्दी दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

राजभाषा देश को अपने प्रशासनिक लक्ष्यों के द्वारा राजनीतिक-आर्थिक इकाई में जोड़ने का काम करती है। अर्थात् राजभाषा की प्राथमिक शर्त राजनीतिक प्रशासनिक एकता का।म करना है।

राजभाषा का प्रयोग-क्षेत्र सीमित होता है, यथा - वर्तमान समय में भारत सरकार के का।लियों एवं कुछ राज्यों हिन्दी क्षेत्र के राज्यों में राज-काज हिन्दी में होता है। अन्य राज्य सरकारें अपनी-अपनी भाषा में कार्य करती हैं, हिन्दी में नहीं- महाराष्ट्र मराठी में, पंजाब पंजाबी में, गुजरात गुजराती में आदि।

राजभाषा कोई भी भाषा हो सकती है स्वभाषा या परभाषा। जैसे, मुगल शासक अकबर के समय से लेकर मैकाले के काल तक फारसी राजभाषा तथा मैकाले के काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक अंग्रेजी राजभाषा थी जो कि विदेशी भाषा थी। जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया गया जो कि स्वभाषा है।

राजभाषा का एक निश्चित मानक स्वरूप होता है जिसके साथ छेड़छाड़ या प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(I) हिन्दी की संवैधानिक स्थिति व उसकी समीक्षा

स्वतंत्रता के पूर्व जो छोटे बड़े राष्ट्रनेता राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने के मुद्दे पर सहमत थे, उनमें से अधिकांश गैर-हिन्दी भाषी नेता स्वतंत्रता मिलने के वक्त हिन्दी के नाम पर बिदकने लगे।

यही वजह थी कि संविधान सभा में केवल हिन्दी पर विचार नहीं हुआ- राजभाषा के नाम पर जो बहस वहाँ 11 सितम्बर 1949 ई. से 14 सितम्बर, 1949 ई. तक हुई, उसमें हिन्दी अंग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दुस्तानी के दावे पर विचार किया गया।

किन्तु संघर्ष की स्थिति सिर्फ हिन्दी एवं अंग्रेजी के समर्थकों के बीच ही देखने को मिली। हिन्दी समर्थक वर्ग में भी दो गुट थे-

एक गुट देवनागरी लिपि वाली हिन्दी का समर्थक था।

दूसरा गुट (महात्मा गाँधी, जे. एल. नेहरू, अबुल कलाम आजाद आदि) दो लिपियों वाली हिन्दुस्तानी के पक्ष में था।

आजाद भारत में एक विदेशी भाषा, जिसे देश का बहुत थोड़ा-सा अंश (अधिक-से-अधिक 1 या 2%) ही पढ़-लिख और समझ सकता था, देश की राजभाषा नहीं बन सकती थी। लेकिन यका।क अंग्रेजी को छोड़ने में भी दिक्कतें थीं। प्राय: 150 वर्षों से अंग्रेजी प्रशासन और उच्च शिक्षा की भाषा रही थी। हिन्दी देश की 46% जनता की भाषा थी। राजभाषा बनने के लिए हिन्दी का दावा न्याययुक्त था। साथ ही, प्रादेशिक भाषाओं की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने राजभाषा की समस्या को हल करने की कोशिश की। संविधान सभा के भीतर और बाहर हिन्दी के विपुल समर्थन को देखकर संविधान सभा ने हिन्दी के पक्ष में अपना फैसला दिया। यह फैसला हिन्दी विरोधी एवं हिन्दी समर्थकों के बीच

'मुंशी-आयंगार फॉर्मूले' के द्वारा समझौते के परिणामस्वरूप सामने आया, जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार थीं-

(i) हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बल्कि राजभाषा है।

(ii) संविधान के लागू होने के दिन से 15 वर्षों की अवधि तक अंग्रेजी बनी रहेगी।

(iii) एक अस्पष्ट निर्देश (अनु. 351) के आधार पर हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी के विवाद को दूर कर लिया गया।

संविधान में भाषा विषयक उपबंध अनु. 120, अनु. 210 एवं भाषा विषयक एक पृथक् भाग-भाग 17 (राजभाषा) के अनु. 343 से 351 तक एवं 8वीं अनुसूची में दिए गए हैं। संविधान के ये भाषा-विषयक उपबंध हिन्दी, अंग्रेजी एवं प्रादेशिक भाषाओं के परस्पर विरोधी दावों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

संसद में प्रयोग की जानेवाली भाषा - अनु. 120

संसद का कार्य हिन्दी में या अंग्रेजी में किया जाएगा, परन्तु यथास्थिति लोकसभाध्यक्ष या राज्य सभा का सभापति किसी सदस्य को उसकी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुमति दे सकता है। संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे तो 15 वर्ष की अवधि के पश्चात् अंग्रेजी में' शब्दों का लोप किया जा सकेगा।

राज्य विधानमंडल में प्रयोग की जानेवाली भाषा - अनु. 210

राज्यों के विधानमंडलों का कार्य अपने-अपने राज्य की राजभाषा या राजभाषाओं में या हिन्दी में या अंग्रेजी में किया जाएगा, परन्तु यथास्थिति विधानसभाध्यक्ष या विधान परिषद का सभापति किसी सदस्य को उसकी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुमति दे सकता है। संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे तो 15 वर्ष की अवधि के पश्चात् 'या अंग्रेजी में' शब्दों का लोप किया जा सकेगा।

संविधान 'भाग-17' - राजभाषा

अध्याय 1- संघ की भाषा

अनु. 343 - संघ की राजभाषा

(i) संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(ii) इस संविधान के प्रारंभ से 15 वर्ष की अवधि तक (अर्थात् 1965 तक) उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए पहले प्रयोग किया जा रहा था।

(iii) परन्तु राष्ट्रपति उक्त अवधि के दौरान संघ के शासकीय प्रयोजनों में से किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा का और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के अतिरिक्त देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।

(iv) संसद उक्त 15 वर्ष की अवधि के पश्चात् विधि द्वारा (i) अंग्रेजी भाषा का या (ii) अंकों के देवनागरी रूप का, ऐसे प्रयोजनों के लिए प्रयोग उपबंधित कर सकेगी जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएँ।

अनु. 344

राजभाषा के संबंध में आयोग - 5 वर्ष के उपरांत राष्ट्रपति द्वारा और 10 वर्ष के उपरांत संसद की समिति द्वारा निर्पय करेगा।

अध्याय 2 - प्रादेशिक भाषाएँ

अनु. 345

राज्य की राजभाषा या राजभाषाएं (प्रादेशिक भाषा भाषाएं या हिन्दी ऐसी व्यवस्था होने तक अंग्रेजी का प्रयोग जारी)

अनु. 346

एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा (संघ द्वारा तत्सम प्रधिकृत भाषा आपसी करार होने पर दो राज्यों के बीच हिन्दी)

अनु. 347

किसी राज्य की जनसंख्या के किसी अनुभाग द्वारा बोली जानेवाली भाषा के संबंध में विशेष उपबंध

अध्याय 3 - SC, HC आदि की भाषा

अनु. 348

SC और HC में और संसद व राज्य विधान मंडल में विधेयकों, अधिनियमों आदि के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा (उपबंध होने तक अंग्रेजी जारी)

अनु. 349

भाषा से संबंधित कुछ विधियां अधिनियमित करने के लिए विशेष प्रक्रिया (राजभाषा संबंधी कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना पेश नहीं की जा सकती और राष्ट्रपति भी आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद ही मंजूरी दे सकेगा)

अध्याय 4 - विशेष निदेश

अनु. 350

व्यथा के निवारण के लिए अभ्यावेदन में प्रयोग की जानेवाली भाषा (किसी भी भाषा में)

(i) भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएँ

(ii) भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति (राष्ट्रपति द्वारा)

अनु. 351 - हिन्दी के विकास के लिए निदेश

संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी में और 8वीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करें।

8वीं अनुसूची

भाषाएँ

8वीं अनुसूची में संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 प्रादेशिक भाषाओं का उल्लेख है।

(i) इस अनुसूची में आरंभ में 14 भाषाएँ (1. असमिया 2. बांग्ला 3. गुजराती 4. हिन्दी 5. कन्नड़ 6. कश्मीरी 7. मलयालम 8. मराठी 9. उड़िया 10. पंजाबी 11. संस्कृत 12. तमिल 13. तेलुगू 14. उर्दू) थीं।

(ii) बाद में सिंधी को (21 वां संशोधन, 1967 ई.), तत्पश्चात् कोंकणी, मणिपुरी, नेपाली को (71 वां संशोधन, 1992 ई.) शामिल किया गया, जिससे इसकी संख्या 18 हो गई।

(iii) तदुपरांत बोडो, डोगरी, मैथिली, संथायली को (92 वां संशोद्यन 2003) शामिल किया गया और इस प्रकार इस अनुसूची में 22 भाषाएँ हो गई।

अध्याय 1 'संघ की भाषा' की समीक्षा

अनु. 343 के संदर्भ में

(i) (अनु. 343 (1) के अनुसार संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी घोषित की गई है। इससे देश के बहुमत की इच्छा ही प्रतिध्वनित होती है।

(ii) अनु. 343 (2) के अनुसार इसे भारतीय संविधान लागू होने की तारीख अर्थात् 26 जनवरी, 1950 ई. से लागू नहीं किया जा सकता था। इसे लागू करने के लिए संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद की अवधि रखी तो गई, परन्तु फिर –

(iii) अनु. 343 (3) के द्वारा सरकार ने यह शक्ति प्राप्त कर ली कि वह इस 15 वर्ष की अवधि के बाद भी अंग्रेजी का प्रयोग जारी रख सकती है।

(iv) रही-सही कसर, बाद में राजभाषा अधिनियम, 1963 ने पूरी कर दी क्योंकि इस अधिनियम ने सरकार के इस उद्देश्य को साफ कर दिया कि अंग्रेजी की हुकूमत देश पर अनंत काल तक बनी रहेगी।

इस प्रकार, संविधान में की गई व्यवस्था 343 (1) हिन्दी के लिए वरदान थी। परन्तु 343 (2) एवं 343 (3) की व्यवस्थाओं ने इस वरदान को अभिशाप में बदल दिया। वस्तुतः संविधान निर्माणकाल में संविधान निर्माताओं में जन साधारण की भावना के प्रतिकूल व्यवस्था करने का साहस नहीं था, इसलिए 343 (1) की व्यवस्था की गई। परन्तु अंग्रेजियत का वर्चस्व बनाये रखने के लिए 343 (2) एवं 343 (3) से उसे प्रभावहीन कर देश पर मानसिक गुलामी लाद दी गई।

अनु. 344 के संदर्भ में

अनु. 344 के अधीन प्रथम राजभाषा आयोग (बी0 जी0 खेर आयोग) का 1955 में तथा संसदीय राजभाषा समिति (जी0 बी0 पंत समिति) का 1957 में गठन हुआ। जहाँ खेर आयोग ने हिन्दी को एकान्तिक व सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पहुँचाने पर जोर दिया वहाँ पंत समिति ने हिन्दी को प्रधान राजभाषा बनाने पर जोर तो दिया लेकिन अंग्रेजी को हटाने की बजाय उसे सहायक राजभाषा बनाये रखने की वकालत की।

हिन्दी के दुर्भाग्य से सरकार ने खेर आयोग को महज औपचारिक माना और हिन्दी के विकास के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए जबकि सरकार ने पंत समिति की सिफारिशों को स्वीकार किया, जो आगे चलकर राजभाषा अधिनियम 1963/67 का आधार बनी जिसने हिन्दी का सत्यानाश कर दिया।

समग्रता से देखें तो स्वतंत्रता-संग्राम काल में हिन्दी देश में राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक थी अतएव राष्ट्रभाषा बनी, और राजभाषा अधिनियम 1963 के बाद यह केवल संपर्क भाषा होकर रह गयी।

अध्याय 2 (प्रादेशिक भाषाएँ) एवं 8वीं अनुसूची की समीक्षा

अनु. 345, 346

अनु. 345, 346 से स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में राज्य सरकारों को पूरी छूट दी गई। संविधान की इन्हीं अनुच्छेदों के अधीन हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी राजभाषा बनी। हिन्दी इस समय 9 राज्यों-उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश, छतीसगढ़, बिहार, झारखंड, राजस्थान, हरियाणा, व हिमाचल प्रदेश तथा 1 केन्द्र शासित प्रदेश दिल्ली की राजभाषा है।

उक्त प्रदेशों में आपसी पत्र-व्यवहार की भाषा हिन्दी है। दिनोंदिन हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी का प्रयोग सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए बढ़ता जा रहा है। इनके अतिरिक्त, अहिन्दी भाषी राज्यों में महाराष्ट्र, गुजरात व पंजाब की एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में चंडीगढ़ व अंडमान निकोबार की सरकारों ने हिन्दी को द्वितीय राजभाषा घोषित कर रखा है तथा हिन्दी भाषी राज्यों से पत्र-व्यवहार के लिए हिन्दी को स्वीकार कर लिया है।

अनु. 347

अनु. 347 के अनुसार यदि किसी राज्य का पर्याप्त अनुपात चाहता है कि उसके द्वारा बोली जानेवाली कोई भाषा राज्य द्वारा अभिज्ञात की जाय तो राष्ट्रपति उस भाषा को सरकारी अभिज्ञा दे सकता है। समय-समय पर राष्ट्रपति ऐसी अभिज्ञा देते रहे हैं, जो 8वीं अनुसूची में स्थान पाते रहे हैं, जैसे–1967 में सिंधी, 1992 में कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली एवं 2003 में बोडो, डोगरी, मैथिली व संथायली।

यही कारण है कि संविधान लागू होने के समय जहाँ 14 प्रादेशिक भाषाओं को मान्यता प्राप्त थी वहीं अब यह संख्या बढ़कर 22 हो गई है।

अध्याय 3 (SC, HC आदि की भाषा अर्थात् न्याय व विधि, कानून की भाषा) की समीक्षा

अनु. 348, 349 से स्पष्ट हो जाता है कि न्याय व कानून की भाषा, उन राज्यों में भी जहाँ हिन्दी को राजभाषा मान लिया गया है, अंग्रेजी ही है। नियम, अधिनियम, विनियम तथा विधि का प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में होने के कारण सारे नियम अंग्रेजी में ही बनाये जाते हैं। बाद में उनका अनुवाद मात्र कर दिया जाता है।

इस प्रकार, न्याय व कानून के क्षेत्र में हिन्दी का समुचित प्रयोग हिन्दी राज्यों में भी अभी तक नहीं हो सका है।

अध्याय 4 'विशेष निदेश' की समीक्षा

अनु. 350

अनु. 350 – भले ही संवैधानिक स्थिति के अनुसार व्यक्ति को अपनी व्यथा के निवारण हेतु किसी भी भाषा में अभ्यावेदन करने का हकदार माना गया

है, लेकिन व्यावहारिक स्थिति यही है कि आज भी अंग्रेजी में अभ्यावेदन करने पर ही अधिक ध्यान देना गवारा करते हैं।

अनु. 351 – 'हिन्दी के विकास के लिए निदेश'

अनु. 351 राजभाषा विषयक उपबंध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें हिन्दी के भावी स्वरूप के विकास की परिकल्पना सन्निहित है। हिन्दी को विकसित करने की दिशाओं का इसमें संकेत है। इस अनुच्छेद के अनुसार संघ सरकार का यह कर्तव्य है कि वह हिन्दी भाषा के विकास और प्रसार के लिए समुचित प्रयास करे ताकि भारत में राजभाषा हिन्दी के ऐसे स्वरूप का विकास हो, जो समूचे देश में प्रयुक्त हो सके और जो भारत की मिली-जुली संस्कृति की अभिव्यक्ति की वाहिका बन सके।

इसके लिए संविधान में इस बात का भी निर्देश दिया गया है कि हिन्दी में हिन्दुस्तानी और मान्यताप्राप्त अन्य भारतीय भाषाओं की शब्दावली और शैली को भी अपनाया जाय और मुख्यत: संस्कृत तथा गौणत: अन्य भाषाओं (विश्व की किसी भी भाषा) से शब्द ग्रहण कर उसके शब्द-भंडार को समृद्ध किया जाये।

संविधान के निर्माताओं की यह प्रबल इच्छा थी कि हिन्दी भारत में ऐसी सर्वमान्य भाषा के स्वरूप को ग्रहण करे, जो सब प्रांतों के निवासियों को स्वीकार्य हो। संविधान के निर्माताओं को यह आशा थी कि हिन्दी अपने स्वाभाविक विकास में भारत की अन्य भाषाओं से वरिष्ठ संपर्क स्थापित करेगी और हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के बीच में साहित्य का आदान-प्रदान भी होगा।

संविधान के निर्माताओं ने उचित ढंग से यह आशा की थी कि राजभाषा हिन्दी अपने भावी रूप का विकास करने में अन्य भारतीय भाषाओं का सहारा लेगी। यह इसलिए था। कि राजभाषा हिन्दी को सबके लिए सुलभ और ग्राह्य रूप धारण करना है।

1950 ई. के बाद हिन्दी की संवैधानिक प्रगति

राष्ट्रपति का संविधान आदेश, 1952

राज्यपालों, SC एवं HC के न्यायाधीशों की नियुक्ति के अधिपत्रों के लिए हिन्दी का प्रयोग प्राधिकृत।

राष्ट्रपति का संविधान आदेश, 1955

कुछ प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग निर्धारित, जैसे-

जनता के साथ पत्र-व्यवहार में,

प्रशासनिक रिपोर्ट, सरकारी पत्रिकाओं व संसदीय रिपोर्ट में,

संकल्पों (resolutions) व विधायी नियमों में,

हिन्दी को राजभाषा मान चुके राज्यों के साथ पत्र-व्यवहार में,

संधिपत्र और करार में,

राजनयिक व अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भारतीय प्रतिनिधियों के नाम जारी किये जाने वाले पत्रों में।

प्रथम राजभाषा आयोग/बाल गंगाधर (बी.जी.) खेर आयोग -

7 जून, 1955 (गठन)य 31 जुलाई, 1956 (प्रतिवेदन)

आयोग की सिफारिशें –

सारे देश में माध्यमिक स्तर तक हिन्दी अनिवार्य की जाए।

देश में न्याय देश की भाषा में किया जाए।

जनतंत्र में अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग संभव नहीं।

अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी भाषा समस्त भारत के लिए उपयुक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग ठीक है, किन्तु शिक्षा, प्रशासन, सार्वजनिक जीवन तथा दैनिक कार्यकलापों में विदेशी भाषा का व्यवहार अनुचित है।

टिप्पणी - आयोग के दो सदस्यों ने बंगाल के सुनीति कुमार चटर्जी व तमिलनाडु के पी. सुब्बोरोयान आयोग की सिफारिशों से असहमति प्रकट की और आयोग के सदस्यों पर हिन्दी का पक्ष लेने का आरोप लगाया। जो भी हो, प्रथम राजभाषा आयोग 'खेर आयोग' ने हिन्दी के अधिकाधिक और प्रगामी प्रयोग पर बल दिया था। खेर आयोग ने जो ठोस सुझाव रखे थे, सरकार ने उन्हें महज औपचारिक मानते हुए राजभाषा हिन्दी के विकास के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए।

संसदीय राजभाषा समिति गोविंद बल्लभ (जी. बी.) पंत समिति-

16 नवम्बर, 1957 (गठन), 8 फरवरी, 1959 (प्रतिवेदन) - पंत समिति ने कहा कि राष्ट्रीय एकता को द्योतित करने के लिए एक भाषा को स्वीकार कर लेने का स्वतंत्रता-पूर्व का जोश ठंढा पड़ गया है।

सिफारिशें–

(i) हिन्दी संघ की राजभाषा का स्थान जल्दी-से-जल्दी ले। लेकिन इस परिवर्तन के लिए कोई निश्चित तारीख (जैसे–26 जनवरी, 1965 ई.) नहीं दी जा सकती यह परिवर्तन धीरे-धीरे स्वाभाविक रीति से होना चाहिए।

(ii) 1965 ई. तक अंग्रेजी प्रधान राजभाषा और हिन्दी सहायक राजभाषा रहनी चाहिए। 1965 के बाद जब हिन्दी संघ की प्रधान राजभाषा हो जाये, अंग्रेजी संघ की सहायक/सह राजभाषा रहनी चाहिए।

टिप्पणी - पंत समिति के सिफारिशों से राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और सेठ गोविंद दास असहमत व असंतुष्ट थे और उन्होंने यह आरोप लगाया कि सरकार हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाए है। इन दोनों नेताओं ने समिति द्वारा अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने की भी घोर विरोध किया। जो भी हो, सरकार ने पंत समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रपति का आदेश, 1960

शिक्षा मंत्रालय, विधि मंत्रालय वैज्ञानिक अनुसंधान व सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय तथा गृह मंत्रालय को हिन्दी को राजभाषा के रूप में विकसित करने हेतु विभिन्न निर्देश।

राजभाषा अधिनियम, 1963 (1967 में संशोधित)

संविधान के अनुसार 15 वर्ष के बाद अर्थात् 1965 ई. से सारा काम-काज हिन्दी में शुरू होना था, परन्तु सरकार की ढुल-मुल नीति के कारण यह संभव नहीं हो सका अहिन्दी क्षेत्रों में, विशेषत: बंगाल और तमिलनाडु (क्डज्ञ द्वारा) में हिन्दी का घोर विरोध हुआ। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दी क्षेत्र में हुई।

जनसंघ (स्थापना-1951 ई., संस्थापक-श्यामा प्रसाद मुखर्जी) एवं प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ६ पी0 एस0 पी0 (स्थापना-1952 ई., संस्थापक-लोहिया) द्वारा हिन्दी का घोर समर्थन किया गया। हिन्दी के क6रपंथी समर्थकों ने भाषायी उन्माद को उभारा जिसके कारण हिन्दी की प्रगति के बदले हिन्दी को हानि पहुँची। इस भाषायी कोलाहल के बीच प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने आश्वासन दिया कि हिन्दी को एकमात्र राजभाषा स्वीकार करने से पहले

अहिन्दी क्षेत्रों की सम्मति प्राप्त की जाएगी और तब तक अंग्रेजी को नहीं हटाया जाएगा।

राजभाषा विधेयक को गृहमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने प्रस्तुत किया।

राजभाषा विधेयक का उद्देश्य

जहाँ राजकीय प्रयोजनों के लिए 15 वर्ष बाद यानी 1965 से हिन्दी का प्रयोग आरंभ होना चाहिए था। वहां व्यवस्था को पूर्ण रूप से लागू न करके उस अवधि के बाद भी संघ के सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग बनाये रखना।

राजभाषा अधिनियम के प्रावधान

राजभाषा अधिनियम, 1963 में कुल 9 धाराएं है जिनमें सर्वप्रथम है– 26 जून, 1965 से हिन्दी संघ की राजभाषा तो रहेगी ही पर उस समय से हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भी संघ के उन सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए बराबर प्रयुक्त होती रहेगी जिनके लिए वह उस तिथि के तुरन्त पहले प्रयुक्त की जा रही थी।

टिप्पणी – इस प्रकार 26 जून, 1965 से राजभाषा अधिनियम, 1963 के तहत द्विभाषिक स्थिति प्रारंभ हुई, जिसमें संघ के सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाएँ प्रयुक्त की जा सकती थीं।

राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 1967

समय-समय पर संसद के भीतर और बाहर जवाहर लाल नेहरू द्वारा दिए गए आश्वासनों और लाल बहादुर शास्त्री द्वारा राजभाषा विधेयक, 1963 को प्रस्तुत करते समय अहिन्दी भाषियों को दिलाए गए विश्वास को मूर्त रूप प्रदान करने के उद्देश्य से इंदिरा गांधी, जो अपने पिता की भाँति अहिन्दी भाषियों से सहानुभूति रखती थी, के शासनकाल में राजभाषा (संशोधन) विधेयक, 1967 पारित किया गया।

राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 1967 के प्रावधान

इस अधिनियम के तहत राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा के स्थान पर नये उपबंध लागू हुए। इसके अनुसार, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समाप्त कर देने

के लिए ऐसे सभी राज्यों के विधानमंडल द्वारा, जिन्होंने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया है, संकल्प (resolution) पारित करना होगा और विधानमंडलों के संकल्पों पर विचार कर लेने के पश्चात् उसकी समाप्ति के लिए संसद के हर एक सदन द्वारा संकल्प पारित करना होगा। ऐसा नहीं होने पर अंग्रेजी अपनी पूर्व स्थिति में बनी रहेगी।

टिप्पणी – इस अधिनियम के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि अंग्रेजी सरकार के कामकाज में सहभाषा के रूप में तब तक बनी रहेगी जब तक अहिन्दी भाषी राज्य हिन्दी को एकमात्र राजभाषा बनाने के लिए सहमत न हो जाएं। इसका मतलब यह हुआ कि भारत का एक भी राज्य चाहेगा कि अंग्रेजी बनी रहे तो वह सारे देश की सहायक राजभाषा बनी रहेगी।

संसद द्वारा पारित संकल्प (Resolution), 1968

(i) राजभाषा हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति को सुनिश्चित करना।

(ii) त्रिभाषा सूत्र (Three Language Formula) को लागू करना।

एकता की भावना के संवर्द्धन हेतु भारत सरकार राज्यों के सहयोग से त्रिभाषा सूत्र को लागू करेगी। त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी व अंग्रेजी के अतिरिक्त दक्षिणी भारतीय भाषाओं में से किसी एक को तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषा व अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी को पढ़ाने की व्यवस्था की जाय।

टिप्पणी – त्रिभाषा सूत्र का प्रयोग सफल नहीं हुआ। न तो हिन्दी क्षेत्र के लोगों ने किसी दक्षिणी भारतीय भाषा का अध्ययन किया और न ही गैर-हिन्दी क्षेत्र के लोगों ने हिन्दी का।

राजभाषा नियम, 1976 (यथासंशोधित, 1987)

इन नियमों की संख्या 12 है जिनमें हिन्दी के प्रयोग के संदर्भ में भारत के क्षेत्रों का 3 वर्गीय विभाजन किया गया है और प्रधान राजभाषा हिन्दी और सह राजभाषा अंग्रेजी एवं प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग हेतु नियम दिये गये हैं। आज भी इन्हीं नियमों के अनुसार सरकार की द्विभाषिक नीति का अनुपालन हो रहा है।

राजभाषा के विकास से संबंधित संस्थाएँ

केन्द्रीय हिन्दी समिति, नई दिल्ली

केन्द्रीय हिन्दी समिति की स्थापना 1967 में नई दिल्ली में हुई। इसका कार्य भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों द्वारा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के संबंध में चालू कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करना होता है। इसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री होते हैं।

राजभाषा विधायी आयोग

राजभाषा विधायी आयोग की स्थापना 1975 में की गई। यह आयोग पहले गृह मंत्रालय के अधीन था। परंतु वर्तमान में विधि-कानून मंत्रालय के अंतर्गत आता है। इसका कार्य प्रमुख कानूनों के हिन्दी पाठ का निर्माण करना होता है।

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अधीन संस्थाएँ

1. प्रकाशन विभाग (Publication Division) - 1944
2. फिल्म प्रभाग (Films Division) - 1948
3. पत्र सूचना कार्यालय (Press Information Bureau), नई दिल्ली - 1956
4. आकाशवाणी - 1957
5. दूरदर्शन - 1976

राष्ट्रभाषा व राजभाषा संबंधी कुछ विविध तथ्य

1. प्रताप नारायण मिश्र ने 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा दिया।
2. हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार सर्वप्रथम बंगाल में उदित हुआ।
3. कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन (1936 ई.) एवं हरिपुरा अधिवेशन (1938 ई.) में कांग्रेस के विराट मण्डप में 'राष्ट्रभाषा सम्मेलन' आयोजित किये गये, जिनकी अध्यक्षता राजेन्द्र प्रसाद (फैजपुर) एवं जमना लाल बजाज (हरिपुरा) ने की।
4. संविधान सभा में हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव गोपाल स्वामी आयंगर ने रखा जिसका समर्थन शंकरराव देव ने किया।

5. संविधान सभा में राजभाषा के नाम पर हुए मतदान में हिन्दुस्तानी को 77 वोट तथा हिन्दी को 78 वोट मिले।
6. आजादी-पूर्व हिन्दी का समर्थन करनेवाले व आजादी बाद हिन्दी का विरोध करने वाले व्यक्तित्त्व
7. सी. राजागोपालाचारी, सुनीति कुमार चटर्जी, हुमायूं, कबीर, अनंत शयनम आयंगार आदि।
8. 'मैं कभी भी हिन्दी का विरोधी नहीं हूँ। मैं उन हिन्दी वालों का विरोध करता हूँ जो वस्तुस्थिति को नहीं समझकर अपने स्वार्थ के कारण हिन्दी को लादने की बात सोचते हैं।' - सी. राजगोपालाचारी

8. 'हिन्दी अहिन्दी लोगों के लिए ठीक उतनी ही विदेशी है जितनी कि हिन्दी समर्थकों के लिए अंग्रेजी।' - सी. राजगोपालाचारी (1958)
9. 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' वाले राष्ट्रबाद की सबसे बड़ी सीमा यह है कि यह समूचे दक्षिण भारत को भूल जाता है। - इरोड वैकट रामास्वमी (ई. वी. आर.) 'पेरियार'
10. 1952 में एक विख्यात स्वतंत्रता सेनानी पोटी श्रीरामालु ने तेलुगू भाषी लोगों के लिए एक पृथक राज्य आंध्र प्रदेश बनाने की मांग पर आमरण अनशन करते हुए 58 दिन बाद (19 अक्तू.- 16 दिस.) अपनी जान दे दी। इसके बाद भाषाई आधार पर राज्यों के गठन की मुहिम में तेजी आई।

4

आधुनिक हिन्दी का विकास क्रम

भाषा के आधार पर यदि संसार की जातियों का वर्गीकरण किया जाए तो कहा जा सकता है कि एक तो आर्य जातियाँ है और दूसरी अनार्य जातियाँ। आर्यों के पूर्वज पूरे यूरोप, ईरान, अफगानिस्तान और भारतीय उपमहाद्दीप (जिसके अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका) में फैल गए थे। यूरोप के 17 वी. -18वी. शताब्दी में, अर्थात् साम्राज्यवादी युग में, लोग कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिणी अफ्रीका में अपने उपनिवेश बनाकर रहने लगे। इन सब देशों के आदिवासियों पर यूरोपीय या आर्य परिवार की भाषाओं का इतना प्रभाव पड़ा है कि वहाँ की मूल भाषाएँ दब-सी गई हैं। अब इन देशों की सामान्य या मुख्य भाषाएँ आर्य परिवार की हैं। विद्वानों ने इस वृहत् परिवार का नाम भारत-यूरोपीय (भारोपीय) रखा है। संसार का सबसे बड़ा भाषा-परिवार यही है। भूमंडल की कुल 350 करोड़ जनसंख्या में इस भारोपीय(आर्य) परिवार की भाषाएँ बोलने वालों की संख्या 150 करोडं हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ये भाषाएँ अत्यंत प्रगतिशील, उत्कृष्ट और समृद्ध हैं। अतः आर्य भाषा के दो वर्ग हैं--(1) यूरोपीय आर्य भाषाएँ (2) भारत-ईरानी आर्य भाषाएँ। भारत-ईरानी वर्ग की तीन शाखाएँ हैं--(1)ईरानी(ईरान और अफगानिस्तान की भाषाएँ), (2) दरद (कश्मीर और पामीर के पूर्व-दक्षिण

की भाषाएँ), (3) भारतीय आर्य भाषाएँ। भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास लगभग साढ़े तीन हजार वर्षों का है। अर्थात् इनका इतिहास ईसा से लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। धर्म, समाज, साहित्य, कला और संस्कृतिक की दृष्टि से तथा प्राचीनता गंभीरता और वैज्ञानिकता के विचार से भारतीय आर्यभाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। संसार का प्राचीनतम ग्रंथ-ऋग्वेद इसी भाषा में है। विकास क्रम के अनुसार भारतीय आर्यभाषा को तीन कालों में बाँटा जाता है--- (1) प्राचिन काल (1500 ई.पू.-- 500) (2) मध्य काल (500 ई.पू.-- 1000) (3) आधुनिक काल(1000 ई.--.....।

(1)प्राचीन काल:– प्राचीन आर्यभाषा को दो भागों में बाँटा जाता हैं--(1) वैदिक संस्कृत (1500 ई.पू. 1000) (2) लौकिक संस्कृत (1000ई. पू.-- 500)प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में वैदिक तथा संस्कृत्य प्रमुख मानी जाती है। ऋग्वेद से वैदिक भाषा का, वाल्मीकी रामायण से लौकिक संस्कृत का कवि माना गया है। इसका रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है। पाणिनी ने 500 ई.पू. इस भाषा में व्याकरणिक रूप 'अष्टाध्यायी' की रचना की थी।

(2)मध्य काल:– मध्यकालीन आर्यभाषा को तीन भागों में बाटाँ गया हैं--(1) पालि (500 ई.पू.-- 1000) (2) प्राकृत (1000 ई.---500 ई.) (3) अपभ्रंश या अवहट्ट (500--1000 ई.)

(1) पालि–मध्यकालीन आर्यभाषाओं का युग पालि भाषा के उदय से आरंभ होता है। पालि शब्द की व्युत्पति 'पल्लि' (ग्रामीण भाषा के शब्द), 'पाटलि' (पाटलिपुत्र अर्थात् मगध की भाषा), पंक्ति, पालि को पालनेवाली (अर्थात् बौद्ध साहित्य की रक्षा करनेवाली) आदि शब्द से माना गया है। लेकिन नाम से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह किस प्रदेश की मूल भाषा थी। मगध सम्राट अशोक के पुत्र महाराजकुमार महेंद्र पालि साहित्य को तीन पिटारों (त्रिपिटक) में भरकर सिंहल(श्रीलंका) ले गए थे, अत: वहाँ के बौद्ध मानते रहे हैं कि पालि मगध की भाषा है। परन्तु मागधीं के जो लक्षण प्राकृत वैयाकरणों ने बताए हैं और अशोक के अभिलेखों में मिलते हैं, वे पालि से भिन्न हैं। यह पूर्व की भाषा नहीं जान पड़ती। विद्वानों ने मथुरा और उज्जैन के बीच के प्रदेश को इसका क्षेत्र माना है। यह भाषा इतनी व्यापक हो गई थीं कि अपना धर्म प्रचार करने के लिए भगवान बुद्ध ने इसें अपना माध्यम बनाया भले ही इस पर मागधी बोली का प्रभाव अवश्य पडा है। कोई बोली जब साहित्य में स्थान पाती है तो उसमें अपने

साथ कई बोलियों के तत्त्व आ ही जाते हैं। पालि भाषा के अध्ययन के प्रमुख आधार है- त्रिपिटक (बुद्ध वचन), टीका साहित्य,और वंश (ऐतिहासिक) साहित्य जो 11वीं शती तक बराबर लिखा जाता रहा है। अपने समय में पालि का प्रचार न केवल उत्तरी भारत में था। अपितु बर्मा, लंका, तिब्बत, चीन की भाषाओं पर उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन आर्यभाषा से आधुनिक आर्य भाषाओं के क्रमिक विकास की बीच की स्थितियों को समक्षने के लिए पालि का महत्त्व बहुत अधिक है। संस्कृत ध्वनियों का जनसाधारण में कैसा उच्चारण होता था, उसकी व्याकरणिक जटिलताओं को सुलझाने के लिए लोक में क्या प्रयत्न हो रहा था, इस सब की जानकारी पहले-पहल पालि में प्राप्त होती है।

(2) प्राकृत– 'प्रकृते आगतं प्राकृतम्' अर्थात् जो भाषा मूल से चली आ रही है उसका नाम 'प्राकृत' है। उस समय मूल भाषा कौन थी, इसके बारे में मतभेद है। हेमचंद्र, मार्कंडेय, सिंहदेव, आदि आचार्यों ने मूल भाषा संस्कृत और उनसे उत्पन्न प्राकृत माने हैं। संस्कृत उस समय जन भाषा थी, वही विकसित-विकृत होते-होते प्राकृत प्रसिद्ध हुई। दूसरा विचार यह है कि प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है, तो जो भाषा स्वभाव से सिद्ध है, वह प्रकृत है। प्रकृति का एक अर्थ 'प्रजा' भी है। 'राजा' शब्द का निर्वचन करते हुए कालिदास ने लिखा है- राजा प्रकृतिरञ्जनात् अर्थात् 'राजा' इसलिए कहलाता है कि वह प्रकृति (प्रजा) का रंजन करता है, अपनी प्रजा को प्रसन्न रखता है। प्राच्य भाषाओं के एक विद्वान, पिशल भी मानते हैं कि प्राकृत की जड़ जनता की बोलियों के भीतर है। जनसाधारण की बोलियाँ तो युग-युग से चली आ रही हैं। वेस (वेष), दूलभ (दुर्लभ), दूडम (दुर्दम), सुवर्ग (स्वर्ग) आदि वेद के ये शब्द प्राकृत के ही तो हैं। कोई भी भाषा पहले जनभाषा होती है, साहित्य में पड़कर और समाज तथा शासन से मान्यता पाकर भाषा हो जाती है। व्रजभाषा या खड़ी बोली कौरवी एक क्षेत्रीय बोली ही थी, साहित्य में आकर भाषा बन गई। जनभाषा ही मूल है, वही प्राकृत है। प्राकृत में प्रचुर साहित्य मिलता है- धार्मिक भी, लौकिक भी। बौद्ध और जैन साहित्य प्रमुख रूप से मागधी और अर्धमागधी में, और लौकिक साहित्य शौरसेनी(गद्य) और महाराष्ट्री(पद्य) में प्राप्त है। गौडवहो और सेतुबंध जैसे-महाकाव्य तथा गाथासप्तशती और वज्जालग्ग जैसे-खंडकाव्य प्राकृत की बहुमूल्य संपत्ति हैं। एक समय कहा जाता था। कि संस्कृत काव्य इसकी होड़ में पिछड़ गया है।

इस साहित्य के आधार पर व्याकरण ग्रंथ लिखे गए जिनमें वररूचि कृत 'प्राकृत प्रकाश' और आचार्य हेमचंद्र का 'प्राकृत व्याकरण' प्रसिद्ध हैं। व्याकरणों ने प्राकृत भाषा में वैसी ही जकड़न ला दी जैसी पाणिनि, कात्यायन आदि वैयाकरणों ने संस्कृत में। तब यह भाषा लोकभाषा नहीं रह गई, शिक्षित वर्ग की भाषा बन गई, तो इसका स्थान अपभ्रंश और अवहट्ट ने ले लिया। वरूचि ने चार प्राकृतों का नाम लिया है- शौरसेनी, माहाराष्ट्री, मागधी और पैशाची। परन्तु, इनमें अर्द्ध मागधी का नाम जोड़ देना आवश्यक है- इसमें भी भरपूर साहित्य मिलता है।

(3) अपभ्रंश–अपभ्रंश मध्यकालीन आर्यभाषा की तीसरी अवस्था का नाम है। व्याडि और महाभाष्यकार पंतजलि ने संस्कृत के मानक शब्दों से भिन्न संस्कारच्युत, भ्रष्ट और अशुद्ध शब्दों को अपभ्रंश की संज्ञा दी। वाग्भट्ट और आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को ग्रामभाषा कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे देशी भाषा कहा है। दण्डी ने इसे आभीरादि की भाषा कहा है। गुर्जर, आभीर, जाट आदि अनेक जातियाँ जो बाहर से आकर पश्चिमी भारत में बस गई थीं, आरम्भ में भारतीय संस्कृति में दीक्षित नहीं हो पाई थीं, इसलिए उनकी भाषा को अपभ्रष्ट समझा जाता था। धीरे-धीरे उन पर शौरसेनी प्राकृत का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनकी भाषा को मान्यता दी जाने लगी। राजसत्ता पाने के पर ये लोग 'राजपुत्र' कहलाने लगे। राजसत्ता के साथ अपभ्रंश का विस्तार भी हुआ और यह भाषा राजभाषा ही नहीं, साहित्य-भाषा और देशभाषा बन गई। सातवीं शती से लेकर ग्यारहवीं शती के अंत तक इसकी विशेष उन्नति हुई। मार्कण्डेय और इतर आचार्यों ने अपभ्रंश के कुल तीन भेद बताये हैं-- नागर (गुजरात की बोली), उपनागर (राजस्थान की बोली), व्राचड (सिंध की बोली)। इस प्रसंग में यह भी बताया गया है कि राजस्थानी अपभ्रंश की जेठी बेटी हैं। अपभ्रंश को आभीर-गुर्जर आदि की भाषा कहते आ रहे हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि यह उत्तर-पश्चिमी भूखंड की भाषा थी। यह सही है कि साहित्यिक भाषा बनने पर इसने विस्तार पाया और धीरे-धीरे आस-पास की प्राकृतों को प्रभावित किया, सबसे अधिक शौरसेनी को। इसी से माना जा सकता है कि हिन्दी के विकास में इसका विशेष योगदान है। कालिदास के नाटकों में कुछ पात्रों के कथन अपभ्रंश में हैं। आठवीं शती में सिद्धों के चर्यापदों में पूर्वी प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश मिलती है। इसी समय के आस-पास चरित काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रासो

काव्य, खण्डकाव्य और स्फुट कविताएँ मिलती हैं। इनमें महापुरण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, पाहुड़ दोहा आदि रचनाएँ हैं।

(4) अवहट्ट–भाषा परिवर्तनशील है। कोई भाषा जब साहित्य का माध्यम होकर एक प्रतिष्ठित रूप ग्रहण करती है और व्याकरण के नियमों में बँध जाती है, तब वह जनभाषा से दूर हो जाती है। अपभ्रंश की भी यही गति हुई। अपभ्रंश के ही परिवर्तित रूप को अवहट्ट कहा गया है। ग्यारहवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के अपभ्रंश कवियों ने अपनी भाषा को अवहट्ट कहा है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्ण रत्नाकर' में किया। 'प्राकृत पैंगलम' की भाषा को उसके टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ट माना है। संदेशरासक के रचियता अब्दुररहमान ने भी अवहट्ट भाषा का उल्लेख किया है। मिथिला के विधापति ने अपनी कृति 'कीर्तिलता' की भाषा को अवहट्ट कहा है। इन सबने जिन भारतीय भाषाओं के नाम गिनाये हैं- सांस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पिशाची उनमें या तो अपभ्रंश नाम लिया या अवहट्ट। दोनों को एक साथ नहीं रखा। इससे लगता है कि अपभ्रंश और अवहट्ट में कोई भेद नहीं समझा गया। आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अवहट्ट को उत्तरकालीन या परवर्ती अपभ्रंश माना है और बताया गया है कि निश्चय रूप से अवहट्ट में ध्वनिगत, रूपगत और शब्दसंबंधी बहुत से तत्त्व ऐसे हैं, जो इसे पूर्ववर्ती अपभ्रंश से अलग करते हैं। संनेहरासय और कीर्तिलता के अतिरिक्त वर्णरत्नाकर और प्राकृतपैंगलम के कुछ अंश, नाथ और सिद्ध साहित्य, नेमिनाथ चौपाई, बहुबलि रास, आदि अवहट्ट की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

(5)आधुनिक काल–आधुनिक भारतीय भाषाओं के काल का प्रारम्भ दसवी. शताब्दी से माना जाता है। इन भाषाओं की उत्पत्ति प्राकृत से मानी जाती है तथा इनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में अपभ्रंश से जोड़ा जाता है– यथा- सांस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। आधुनिक काल की भाषाएँ अनेक हैं, हिन्दी, बंगला, उडिया, असमी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी। भाषाविदों के मत में उस समय के शोरसेनी, पेशाची, ब्राचड़, खस, महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंशों से ही आधुनिक आर्य भाषाएँ विकसित हुई हैं। हिन्दी उनमें एक है, जो सब भारतीय आर्य भाषाओं की बड़ी बहन है, और सबसे अधिक जनसमूह द्वारा बोली-समझी जाती है। हिन्दी की

तीन कालक्रमिक स्थितियाँ हैं-- (1) आदिकाल (सन् 1000 से 1500 ई.) (2) मध्यकाल (सन् 1500 से 1800 ई.) (3) आधुनिक काल सन् 1800 से आज तक)

(1) आदिकाल–आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी का आदिकाल अपभ्रंश तथा प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित था। आदिकालीन नाथों और सिद्धों ने इसी भाषा में धर्म प्रचार किया था। इस काल में हिन्दी में मुख्य रूप से वही ध्वनियाँ मिलती हैं, जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं। अपभ्रंश के अलावा आदिकालीन हिन्दी में 'ड़', 'ढ़' आदि ध्वनियाँ आई हैं। मुसलमान शासकों के प्रभाव से अरबी तथा फारसी के कुछ शब्दों के कारण भी कुछ नये व्यंजन- ख,ज, फ, आदि आ गये। ये व्यंजन अपभ्रंश में नहीं मिलते थे। अपभ्रंश के तीन लिंग थे। किन्तु प्राचीन हिन्दी में नपुंसक लिंग समाप्त हो गया। प्राचीन काल में चारण भाटों ने इसी भाषा में डिंगल साहित्य अर्थात् 'रासों' ग्रंथों का निर्माण किया।

(2) मध्यकाल–इस काल में अपभ्रंश का प्रभाव लगभग समाप्त हो गया और हिन्दी की तीन प्रमुख बोलियाँ विशेषकर अवधी, ब्रज तथा खड़ी बोली स्वतन्त्र रूप से प्रयोग में आने लगी। साहित्यिक दृष्टि से इस युग में मुख्यत: ब्रज और अवधी में साहित्य निर्माण हुआ। कृष्णभक्ति शाखा के संत कवियों ने ब्रज भाषा में अपने ग्रन्थों का निर्माण किया तथा रामभक्ति शाखा के कवियों ने अवधी भाषा में अपनी रचनाओं का निर्माण किया। इसके साथ ही प्रेमाश्रयी शाखा के सूफी कवियों ने भी अवधी में अपनी रचनाएँ लिखीं। ब्रज तथा अवधी के साथ-साथ खड़ी बोली का भी प्रयोग इस युग में काफी पनपा। मुसलमान शासकों के प्रभाव से खड़ी बोली में अरबी तथा फारसी शब्द प्रचलित हुए और उसके विकास का श्रीगणेश हुआ।

(3) आधुनिक काल–अठारहवीं शती में ब्रज तथा अवधी भाषा की शक्ति तथा प्रभाव क्षीण होता गया और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से ही खड़ी बोली का मध्यप्रदेश की हिन्दी पर भारी प्रभाव पड़ा। बोलचाल, राजकाज तथा साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी का व्यापक पैमाने पर प्रयोग होने लगा था। भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी भाषा के पाँच उपभाषा वर्ग माने गये हैं-

(1) पश्चिमी हिन्दी–इसके अन्तर्गत कौरवी(खड़ी बोली), बागरू (हरियाणवी),ब्रज, कन्नौजी एवं बुंदेली।

(2) पूर्वी हिन्दी–इसके अन्तर्गत भोजपुरी,मैथिली,मगही आदि बोलियाँ।

(3) बिहारी हिन्दी–इसके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही बोलियाँ।

(4) राजस्थानी हिन्दी–इसके अन्तर्गत मारवाड़ी, जयपुरी (हाड़ोती), मेवाड़ी, और मालवी आदि बोलियाँ आती हैं।

(5) पहाड़ी हिन्दी–इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से गढ़वाली तथा कुमाउँनी बोलियाँ आती हैं।

5

सूरदास

सूरदास कवियों में सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हिंदी साहित्य, के सूर्य, माने जाते हैं।

जीवन परिचय

सूरदास का जन्म 1540ई. में रुनकता नामक गाँव में हुआ। यह गाँव मथुरा-आगरा मार्ग के किनारे स्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह बहुत विद्वान थे, उनकी लोग आज भी चर्चा करते है। वे मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। सूरदास के पिता, रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध होने के विषय में मतभेद है। प्रारंभ में सूरदास आगरा के समीप गऊघाट पर रहते थे। वहीं उनकी भेंट श्री वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर के कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के निकट पारसौली ग्राम में हुई।

सूरदास बनना

मदन मोहन एक बहुत ही सुन्दर और तेज बुद्धि के नवयुवक थे वह हर दिन नदी के किनारे जा कर बैठ जाता और गीत लिखता।। एक दिन एक ऐसा

वाकया हुआ जिसने उसके मन को मोह लिया। हुआ ये कि एक सुन्दर नवयुवती नदी किनारे कपड़े धो रही थी, मदन मोहन का ध्यान उसकी तरफ चला गया। उस युवती ने मदन मोहन को ऐसा आकर्षित किया कि वह कविता लिखना भूल गए और पूरा ध्यान लगा कर उस युवती को देखने लगे। उनको ऐसा लगा मानो यमुना किनारे राधिका स्नान कर के बैठी हो। उस नवयुवती ने भी मदन मोहन की तरफ देखा और उनके पास आकर बोली आप मदन मोहन जी हो ना? तो वह बोले, हां मैं मदन मोहन हूँ। कविताये लिखता हूँ तथा गाता हूँ आपको देखा तो रुक गया। नवयुवती ने पूछा क्यों ? तो वह बोले आप हो ही इतनी सुन्दर। यह सिलसिला कई दिनों तक चला। जब यह बात मदन मोहन के पिता को पता चली तो उनको बहुत क्रोध आया। फिर मदन मोहन ने उनका घर छोड़ दिया। पर उस सुन्दर युवती का चेहरा उनके सामने से नहीं जा रहा था। एक दिन वह मंदिर मे बैठे थे तभी वह एक शादीशुदा बहुत ही सुन्दर स्त्री आई। मदन मोहन उनके पीछे पीछे चल दिए। जब वह उसके घर पहुँचे तो उसके पति ने दरवाजा खोला तथा पूरे आदर समानं के साथ उन्हें अंदर बिठाया। फिर मदन मोहन ने दो जलती हुए सिलाया मांगी तथा उसे अपनी आँख में डाल दी। इस तरह मदन मोहन बने महान कवि सूरदास।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है -

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख।

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वी में माना गया है, अतएव 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 वि. है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म सं0 1540 ईस्वी के लगभग ठहरता है, क्योंकि बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि बल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और बल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख् कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि0 समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620

से 1648 ईस्वी के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि0 के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वी के आस-पास माना जाता है।

श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास की आयु 'सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। बल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। 'आइने अकबरी' में (संवत् 1653 ईस्वी) तथा 'मुतखबुत-तवारीख' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे ?

सूरदास श्रीनाथ की 'संस्कृतवार्ता मणिपाला' श्री हरिराय कृत 'भाव-प्रकाशष्, श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में लिखा है - 'सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रुपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।' डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, ने लिखा है - 'सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।'

रचनाएँ

सूरदास जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं–

(1) सूरसागर - जो सूरदास की प्रसिद्ध रचना है। जिसमें सवा लाख पद संग्रहित थे। किंतु अब सात-आठ हजार पद ही मिलते हैं।

(2) सूरसारावली

(3) साहित्य-लहरी - जिसमें उनके कूट पद संकलित हैं।

(4) नल-दमयन्ती
(5) ब्याहलो
(6) 'पद संग्रह'

उपरोक्त में अन्तिम दो अप्राप्य हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत् गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, साहित्य लहरी की प्राप्त प्रति में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

'साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर की सारावली। श्रीकृष्ण जी की बाल-छवि पर लेखनी अनुपम चली।।'

सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की लीलाओं का गान रहा है।

सूरसारावली में कवि ने जिन कृष्ण विषयक कथात्मक और सेवा परक पदों का गान किया उन्ही के सार रूप में उन्होंने सारावली की रचना की है।

सहित्यलहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

सूरदास की काव्यगत विशेषताएँ

1. सूरदास के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मनुष्य को सद्गति मिल सकती है। अटल भक्ति कर्मभेद, जातिभेद, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है।
2. सूर ने वात्सल्य,श्रृंगार और शांत रसों को मुख्य रूप से अपनाया है। सूर ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे कृष्ण के बाल्य-रूप का अति सुंदर, सरस, सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बालकों की चपलता, स्पर्धा, अभिलाषा, आकांक्षा का वर्णन करने में विश्व व्यापी बाल-स्वरूप का चित्रण किया है। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्राण में कवि ने कमाल की होशियारी एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है–

   मैया कबहिं बढैगी चौटी?
   किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
   सूर के कृष्ण प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति है जिसकी अभिव्यक्ति बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव रूप में हुई है।

3. जो कोमलकांत पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है।
4. सूर ने भक्ति के साथ शृंगार को जोड़कर उसके संयोग-वियोग पक्षों का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।
5. सूर ने विनय के पद भी रचे हैं, जिसमें उनकी दास्य-भावना कहीं-कहीं तुलसीदास से आगे बढ़ जाती है-

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।

6. सूर ने स्थान-स्थान पर कूट पद भी लिखे हैं।
7. प्रेम के स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया है यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह इस प्रेम के योग्य है
8. सूर ने यशोदा आदि के शील, गुण आदि का सुंदर चित्राण किया है।
9. सूर का भ्रमरगीत वियोग-शृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं है, उसमें सगुण और निर्गुण का भी विवेचन हुआ है। इसमें विशेषकर उद्धव-गोपी संवादों में हास्य-व्यंग्य के अच्छे छींटें भी मिलते हैं।
10. सूर काव्य में प्रकृति-सौंदर्य का सूक्ष्म और सजीव वर्णन मिलता है।
11. सूर की कविता में पुराने आख्यानों और कथनों का उल्लेख बहुत स्थानों में मिलता है।
12. सूर के गेय पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुंदर व्यजना हुई है। उनके कृष्ण-लीला संबंधी पदों में सूर के भक्त और कवि हृदय की सुंदर झाँकी मिलती है।
13. सूर का काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से ही महान नहीं है, कला-पक्ष की दृष्टि से भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। सूर की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा वाग्वैदिग्धपूर्ण है। अलंकार-योजना की दृष्टि से भी उनका कला-पक्ष सबल है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की कवित्व-शक्ति के बारे में लिखा है-

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् कृष्ण-काव्य की विशिष्ट परंपरा को भी जन्म दिया।

सूरसागर

सूरसागर में लगभग एक लाख पद होने की बात कही जाती है। किन्तु वर्तमान संस्करणों में लगभग पाँच हजार पद ही मिलते हैं। विभिन्न स्थानों पर इसकी सौ से भी अधिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका प्रतिलिपि काल संवत् 1658 वि. से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक है इनमें प्राचीनतम प्रतिलिपि नाथद्वारा (मेवाड़) के 'सरस्वती भण्डार' में सुरक्षित पायी गई हैं।

सूरसागर सूरदासजी का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसके दो प्रसंग 'कृष्ण की बाल-लीला' और 'भ्रमर-गीतसार' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सूरसागर की सराहना करते हुए डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - ''काव्य गुणें की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्त्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुलमिल गया है।'' दार्शनिक विचारों की दृष्टि से 'भागवत' और 'सूरसागर' में पर्याप्त अन्तर है।

सूर सारावली

इसमें 1107 छन्द हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ एक 'वृहद् होली' गीत के रुप में रचित हैं। इसकी टेक है - ''खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात।'' इसका रचना-काल संवत् 1602 वि0 निश्चित किया गया है, क्योंकि इसकी रचना सूर के 67वें वर्ष में हुई थी।

साहित्य लहरी

यह 118 पदों की एक लघु रचना है। इसके अन्तिम पद में सूरदास का वंशवृक्ष दिया है, जिसके अनुसार सूरदास का नाम सूरजदास है और वे चन्दबरदायी के वंशज सिद्ध होते हैं। अब इसे प्रक्षिप्त अंश माना गया है ओर शेष रचना पूर्ण प्रामाणिक मानी गई है। इसमें रस, अलंकार और नायिका-भेद का प्रतिपादन किया गया है। इस कृति का रचना-काल स्वयं कवि ने दे दिया है जिससे यह संवत् विक्रमी में रचित सिद्ध होती है। रस की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशुद्धशृंगार की कोटि में आता है।

1.

अंखियां हरि-दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहति कमलनैन कौ" निसि-दिन रहति उदासी।।
आए ऊधै फिरि गए आंगन" डारि गए गर फांसी।
केसरि तिलक मोतिन की माला" वृन्दावन के बासी।।
काहू के मन को कोउ न जानत" लोगन के मन हांसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौ" करवत लैहौं कासी।।

2.

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जबते स्याम सिधारे।।
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहुँ, उर बिच बहत पनारे।
आँसू सलिल भये पग थाके, बहे जात सित तारे।
'सूरदास' अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे।

3.

मधुकर! स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो सांवरी सूरत" चितै नयन की कोर।।
पकरयो तेहि हिरदय उर-अंतर प्रेम-प्रीत के जोर।
गए छुड़ाय छोरि सब बंधन दे गए हंसनि अंकोर।।
सोबत तें हम उचकी परी हैं दूत मिल्यो मोहिं भोर।
सूर" स्याम मुसकाहि मेरो सर्वस सै गए नंद किसोर।।

4.

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल" अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।
बृथा बहति जमुना" खग बोलत" बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन" पानी" धनसार" संजीवनि दधिसुत किरनभानु भई भुंजैं।
ये ऊधो कहियो माधव सों" बिरह करद करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत" अंखियां भई बरन ज्यौं गुजैं।

5.

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो।।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों" संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों" सन्मुख बान सह्यो।।
हम जो प्रीति करी माधव सों" चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो" नैननि नीर बह्यो।।

6. राग गौरी

कहियौ, नंद कठोर भये।
हम दोउ बीरैं डारि परघरै, मानो थाती सौंपि गये।
तनक-तनक तैं पालि बड़े किये, बहुतै सुख दिखराये।
गो चारन कों चालत हमारे पीछे कोसक धाये।
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाये।
बहुरि बिधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाये।
कौन काज यहि राजनगरि कौ, सब सुख सों सुख पाये।
सूरदास, ब्रज समाधान करु, आजु-काल्हि हम आये।

भावार्थ :– श्रीकृष्ण अपने परम ज्ञानी सखा उद्धव को मोहान्ध ब्रजवासियों में ज्ञान प्रचार करने के लिए भेज रहे हैं। इस पद में नंद बाबा के प्रति संदेश भेजा है। कहते है–– "बाबा, तुम इतने कठोर हो गये हो कि हम दोनों भाइयों को पराये घर में धरोहर की भांति सौंप कर चले गए। जब हम जरा-जरा से थे, तभी से तुमने हमें पाल-पोसकर बड़ा किया, अनेक सुख दिए। वे बातें भूलने की नहीं। जब हम गाय चराने जाते थे, तब तुम एक कोस तक हमारे पीछे-पीछे दौड़ते चले आते थे। हम तो बाबा, सब तरह से तुम्हारे ही है। पर वसुदेव और देवकी का अनधिकार तो देखो। ये लोग नंद-यशोदा के कृष्ण-बलराम को आज

"अपने जाये पूत" कहते हैं। वह दिन कब होगा, जब हमें यशोदा मैया फिर अपनी गोद में खिलायेंगी। इस राजनगरी, मथुरा के सुख को लेकर क्या करें ! हमें तो अपने ब्रज में ही सब प्रकार का सूख था। उद्धव, तुम उन सबको अच्छी तरह से समझा-बुझा देना, और कहना कि दो-चार दिन में हम अवश्य आयेंगे।"

राग सारंग

नीके रहियौ जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि पांच में हम हलधर दोउ भैया
जा दिन तें हम तुम तें बिछुरै, कह्यौ न कोउ कन्हैया'।
कबहुं प्रात न कियौ कलेवा, सांझ न पीन्हीं पैया।
वंशी बैत विषान दैखियौ द्वार अबेर सबेरो।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो।
कहियौ जाइ नंद बाबा सों, बहुत निठुर मन कीन्हौं।
सूरदास, पहुँचाइ मधुपुरी बहुरि न सोधौ लीन्हौं।

भावार्थ :–कह्यौ न कोउ कन्हैया' यहां मथुरा में तो सब लोग कृष्ण और यदुराज के नाम से पुकारते है, मेरा प्यार का कन्हैया' नाम कोई नहीं लेता। लै जिनि जाइ चुराइ राधिका' राधिका के प्रति 12 बर्ष के कुमार कृष्ण का निर्मल प्रेम था, यह इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है। राधा कहीं मेरा खिलौना न चुरा ले जाय, कैसी बालको-चित सरलोक्ति है।

शब्दार्थ :– नीके रहियौ = कोई चिम्ता न करना। न पीन्हीं पैया = ताजे दूध की धार पीने को नहीं मिली। बिषान = सींग, (बजाने का)। अबेर सबेरी = समय-असमय, बीच-बीच में जब अवसर मिले। सोधौ =खबर भी

8. राग देश

जोग ठगौरी ब्रज न बिकहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधौ, ऐसोई फिरि जैहै
यह जापे लै आये हौ मधुकर, ताके उर न समैहै।
दाख छांडि कैं कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।
मूरी के पातन के कैना को मुकताहल दैहै।
सूरदास, प्रभु गुनहिं छांड़िकै को निरगुन निरबैहै।

भावार्थ :– उद्धव ने कृष्ण-विरहिणी ब्रजांगनाओं को योगभ्यास द्वारा निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए जब उपदेश दिया, तो वे ब्रजवल्लभ उपासिनी गोपियां कहती हैं कि इस ब्रज में तुम्हारे योग का सौदा बिकने का नहीं।

जिन्होंने सगुण ब्रह्म कृष्ण का प्रेम-रस-पान कर लिया, उन्हें तुम्हारे नीरस निर्गुण ब्रह्म की बातें भला क्यों पसन्द आने लगीं ! अंगूर छोड़कर कौन मूर्ख निबोरियां खायगा ? मोतियों को देकर कौन मूढ़ बदले में मूली के पत्ते खरीदेगा ? योग का यह ठग व्यवसाय प्रेमभूमि ब्रज में चलने का नहीं।

शब्दार्थ :– ठगौरी = ठगी का सौदा। एसोइ फिरि जैहैं = योंही बिना बेचे वापस ले जाना होगा। जापै = जिसके लिए। उर न समैहै = हृदय में न आएगा। निबौरी =नींम का फल। मूरी = मूली। केना =अनाज के रूप में साग-भाजी की कीमत, जिसे देहात में कहीं-कहीं देकर मामूली तरकारियां खरीदते थे। मुकताहल = मोती। निर्गुन =सत्य, रज और तमोगुण से रहित निराकार ब्रह्म

9. राग टोडी

ऊधो, होहु इहां तैं न्यारे।
तुमहिं देखि तन अधिक तपत है, अरु नयननि के तारे।
अपनो जोग सैंति किन राखत, इहां देत कत डारे।
तुम्हरे हित अपने मुख करिहैं, मीठे तें नहिं खारे।
हम गिरिधर के नाम गुननि बस, और काहि उर धारे।
सूरदास, हम सबै एकमत तुम सब खोटे कारे।

भावार्थ :–तुमहि ..तारे,' तुम जले पर और जलाते हो, एक तो कृष्ण की विरहाग्नि से हम योंही जली जाती है उस पर तुम योग की दाहक बातें सुना रहे हो। आंखें योंही जल रही है। हमारे जिन नेत्रों में प्यारे कृष्ण बस रहे हैं, उनमें तुम निर्गुण निराकार ब्रह्म बसाने को कह रहे हो। अपनो.डारें', तुम्हारा योग-शास्त्र तो एक बहुमूल्य वस्तु है, उसे हम जैसी गंवार गोपियों के आगे क्यों व्यर्थ बरबाद कर रहे हो। तुम्हारे.खारे,' तुम्हारे लिए हम अपने मीठे को खारा नहीं कर सकतीं, प्यारे मोहन की मीठी याद को छोड़कर तुम्हारे नीरस निर्गुण ज्ञान का आस्वादन भला हम क्यों करने चलीं ?

शब्दार्थ :– न्यारे होहु = चले जाओ। सैंति = भली-भांति संचित करके। खोटे = बुरे

10. राग केदारा

फिर फिर कहा सिखावत बात।
प्रात काल उठि देखत ऊधो, घर घर माखन खात।
जाकी बात कहत हौ हम सों, सो है हम तैं दूरि।
इहं हैं निकट जसोदानन्दन प्रान-सजीवनि भूरि।

बालक संग लियें दधि चोरत, खात खवावत डोलत।
सूर, सीस नीचौं कत नावत, अब नहिं बोलत।

11. राग रामकली

उधो, मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम संग, को अवराधै ईस।
सिथिल भई सबहीं माधौ बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकिरही आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के, सकल जोग के ईस।
सूरदास, रसिकन की बतियां पुरवौ मन जगदीस।

टिप्पणी :– गोपियां कहती है, मन तो हमारा एक ही है, दस-बीस मन तो हैं नहीं कि एक को किसी के लगा दें और दूसरे को किसी और में। अब वह भी नहीं है, कृष्ण के साथ अब वह भी चला गया। तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की उपासना अब किस मन से करें ?" स्वासा.बरीस,' गोपियां कहती हैं,"यों तो हम बिना सिर की-सी हो गई हैं, हम कृष्ण वियोगिनी हैं, तो भी 'याम-मिलन की आशा में इस सिर-विहीन शरीर में हम अपने प्राणों को करोड़ों वर्ष रख सकती हैं।" सकल जोग के ईस' क्या कहना, तुम तो योगियों में भी शिरोमणि हो। यह व्यंग्य है।

शब्दार्थ :– हुतो =था। अवराधै = आराधना करे, उपासना करे। ईस =निर्गुण ईश्वर। सिथिल भई = निष्प्राण सी हो गई हैं। स्वासा = 'वास, प्राण। बरीश = वर्ष का अपभ्रंश। पुरवौ मन = मन की इच्छा पूरी करो

12. राग टोडी

अंखियां हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं–प-रस रांची ये बतियां सुनि रूखी
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं झूखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी।
बारक वह मुख फेरि दिखावहुदुहि पय पिवत पतूखी।
सूर, जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी।

भावार्थ :– अंखियां रूखी,' जिन आंखों में हरि-दर्शन की भूल लगी हुई है, जो रूप- रस मे रंगी जा चुकी हैं, उनकी तृप्ति योग की नीरस बातों से कैसे हो सकती है ? अवधि..दूखी,' इतनी अधिक खीझ इन आंखों को पहले नहीं हुई थी, क्योंकि श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा में अबतक पथ जोहा करती थीं।

पर उद्धव, तुम्हारे इन योग के संदेशों से इनका दु:ख बहुत बढ़ गया है।'जोग जनि सूखी,' अपने योग की नाव तुम कहां चलाने आए हो? सूखी रेत की नदियों में भी कहीं नाव चला करती है? हम विरहिणी ब्रजांगनाओं को क्यों योग के संदेश देकर पीड़ित करते हो ? हम तुम्हारे योग की अधिकारिणी नहीं हैं।

शब्दार्थ :– रांची =रंगी हुई अनुरूप। अवधि = नियत समय। झूखी = दु:ख से पछताई खीजी। दु:खी =दु:खित हुई। बारक =एक बार। पतूखी =पत्तेश का छोटा–सा दाना

13. राग मलार

ऊधो, हम लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तै तातो, कहो कौन बिधि कीजै।
तुमहीं कहौ, इहां इतननि में सीखनहारी को है।
जोगी जती रहित माया तैं तिनहीं यह मत सोहै।
कहा सुनत बिपरीत लोक में यह सब कोई कैहै।
देखौ धौं अपने मन सब कोई तुमहीं दूषन दैहै।
चंदन अगरु सुगंध जे लेपत, का विभूति तन छाजै।
सूर, कहौ सोभा क्यों पावै आंखि आंधरी आंजै।

भावार्थ :–'हम लायक,' हमारे योग्य, हमारे काम की। अधिकारी देखकर उपदेश दो। कहौ कीजै,' तुम्हीं बताओ, इसे किस तरह ग्रहण करे ?'विपरीत' उलटा, स्त्रियों को भी कठिन योगाभ्यास की शिक्षा दी जा रही है, यह विपरीत बात सुनकर संसार क्या कहेगा ? आंखि आंधरी आंजै' अंधी स्त्री यदि आंखों में काजल लगाए तो क्या वह उसे शोभा देगा ? इसी प्रकार चंदन और कपूर का लेप करने वाली कोई स्त्री शरीर पर भस्म रमा ले तो क्या वह शोभा पायेगी ?

शब्दार्थ :– सिख = शिक्षा, उपदेश। तातो =गरम। जती =यति, संन्यासी। यह मत सोहै = यह निर्गुणवाद शोभा देता है। कैहै =कहेगा। चंदन अगरु = मलयागिर चंदन विभूति =भस्म, भभूत। छाजै =सोहती है

14. राग सारंग

ऊधो, मन माने की बात।
दाख छुहारो छांड़ि अमृतफल, बिषकीरा बिष खात।
जो चकोर कों देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बंधत कमल के पात।
ज्यों पतंग हित जानि आपुनो दीपक सो लपटात।
सूरदास, जाकौ जासों हित, सोई ताहि सुहात।

टिप्पणी :– अंगार अघात,' तजि अंगार न अघात' भी पाठ है उसका भी यही अर्थ होता है, अर्थात अंगार को छोड़कर दूसरी चीजों से उसे तृप्ति नहीं होती। तजि अंगार कि अघात' भी एक पाठान्तर है। उसका भी यही अर्थ है।

शब्दार्थ :– अंगार अघात,' =अंगारों से तृप्त होता है, प्रवाद है कि चकोर पक्षी अंगार चबा जाता है। कोरि =छेदकर। पात =पत्ता

15. राग काफी

निरगुन कौन देश कौ बासी।
मधुकर, कहि समुझाइ, सौंह दै बूझति सांच न हांसी।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन, भेष है कैसो, केहि रस में अभिलाषी।
पावैगो पुनि कियो आपुनो जो रे कहैगो गांसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगो-सौ सूर सबै मति नासी।

टिप्पणी :– गोपियां ऐसे ब्रह्म की उपासिकाएं हैं, जो उनके लोक में उन्हीं के समान रहता हो, जिनके पिता भी हो, माता भी हो और स्त्री तथा दासी भी हो। उसका सुन्दर वर्ण भी हो, वेश भी मनमोहक हो और स्वभाव भी सरस हो। इसी लिए वे उद्धव से पूछती हैं, " अच्छी बात है, हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से प्रीति जोड़ लेंगी, पर इससे पहले हम तुम्हारे उस निर्गुण का कुछ परिचय चाहती हैं। वह किस देश का रने वाला है, उसके पिता का क्या नाम है, उसकी माता कौन है, कोई उसकी स्त्री भी है, रंग गोरा है या सांवला, वह किस देश में रहता है, उसे क्या-क्या वस्तुएं पसंद हैं, यह सब बतला दो। फिर हम अपने श्यामसुन्दर से उस निर्गुण की तुलना करके बता सकेंगी कि वह प्रीति करने योग्य है या नहीं।" पावैगो.गांसी,' जो हमारी बातों का सीधा-सच्चा उत्तर न देकर चुभने वाली व्यंग्य की बाते कहेगा, उसे अपने किए का फल मिल जायगा।

शब्दार्थ :– निरगुन = त्रिगुण से रहित ब्रह्म। सौंह =शपथ, कसम। बूझति =पूछती हैं। जनक =पिता। वरन =वर्ण, रंग। गांसी = व्यंग, चुभने वाली बात

16. राग नट

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहां रहौ तहं नंदलाडिले, जीवौ कोटि बरीस।
मुरली दई, दौहिनी घृत भरि, ऊधो धरि लई सीस।
इह घृत तौ उनहीं सुरभिन कौ जो प्रिय गोप-अधीस।
ऊधो, चलत सखा जुरि आये ग्वाल बाल दस बीस।
अबकैं ह्यां ब्रज फेरि बसावौ सूरदास के ईस।

टिप्पणी :– जहां रहौं बरीस,' "प्यारे नंदनंदन, तुम जहां भी रहो, सदा सुखी रहो और करोड़ों वर्ष चिरंजीवी रहो। नहीं आना है, तो न आओ, मेरा वश ही क्या ! मेरी शुभकामना सदा तुम्हारे साथ बनी रहेगी, तुम चाहे जहां भी रहो।" मुरली सीस,' यशोदा के पास और देने को है ही क्या, अपने लाल की प्यारी वस्तुएं ही भेज रही हैं– बांसुरी और कृष्ण की प्यारी गौओं का घी। उद्धव ने भी बडे प्रेम से मैया की भेंट सिरमाथे पर ले ली।

शब्दार्थ कोटि बरीस =करोड़ों वर्ष। दोहिनी =मिट्टी का बर्तन, जिसमें दूध दुहा जाता है, छोटी मटकिया। सुरभिन =गाय। जो प्रिय गोप अधीस = जो गोएं ग्वाल–बालों के स्वामी कृष्ण को प्रिय थीं। जुरि आए = इकट्ठे हो गए

17. राग गोरी

कहां लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम, तुम बिनु उन लोगनि जैसें दिवस बिहात।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वै मलिन बदन कृसगात।
परमदीन जनु सिसिर हिमी हत अंबुज गन बिनु पात।
जो कहुं आवत देखि दूरि तें पूंछत सब कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात।
पिक चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहिं न खात।
सूर, स्याम संदेसनि के डर पथिक न उहिं मग जात।

भावार्थ :– परमदीन पात,' सारे ब्रजबासी ऐसे श्रीहीन और दीन दिखाई देते है, जैसे–शिशिर के पाले से कमल कुम्हला जाता है और पत्ते उसके झुलस जाते हैं। पिक .पावहिं,' कोमल और पपीहे विरहाग्नि को उत्तेजित करते हैं अतः बेचारे इतने अधिक कोसे जाते हैं कि उन्होंने वहां बसेरा लेना भी छोड़ दिया है। बायस.खात,' कहते हैं कि कौआ घर पर बैठा बोल रहा हो और उसे कुछ खाने को रख दिया जाय, तो उस दिन अपना कोई प्रिय परिजन या मित्र परदेश से आ जाता है। यह शकुन माना जाता है। पर अब कोए भी वहां जाना पसंद नहीं करते। वे बलि की तरफ देखते भी नहीं। यह शकुन भी असत्य हो गया।

शब्दार्थ :– विहात =बीतते हैं। मलिन बदन = उदास। सिसिर हिमी हत = शिशिर ऋतु के पाले से मारे हुए। बिनु पात = बिना पत्ते के। कुसलात = कुशल–क्षेम। बायस =कौआ। बलि भोजन का भाग

18. राग मारू

ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।

बृंदावन गोकुल तन आवत सघन तृनन की छाहीं।
प्रात समय माता जसुमति अरु नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यो सजायौ अति हित साथ खवावत।
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हंसत सिरात।
सूरदास, धनि धनि ब्रजबासी जिनसों हंसत ब्रजनाथ।

शब्दार्थ :– गोकुल तन = गोकुल की तरफ। तृनन की = वृक्ष–लता आदि की। हित =स्नेह। सिरात = बीतता था।

भावार्थ :– निर्मोही मोहन को अपने ब्रज की सुध आ गई। व्याकुल हो उठे, बाल्यकाल का एक–एक दृष्य आंखों में नाचने लगा। वह प्यारा गोकुल, वह सघन लताओं की शीतल छाया, वह मैया का स्नेह, वह बाबा का प्यार, मीठी–मीठी माखन रोटी और वह सुंदर सुगंधित दही, वह माखन–चोरी और ग्वाल बालों के साथ वह ऊधम मचाना ! कहां गये वे दिन? कहां गई वे घड़ियां

काव्य–रस एव समीक्षा

सूरदास जी वात्सल्यरस के सम्राट माने गए हैं। उन्होंने श्रृंगार और शान्त रसो का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। बालकृष्ण की लीलाओं को उन्होंने अन्त:चक्षुओं से इतने सुन्दर, मोहक, यथार्थ एवं व्यापक रुप में देखा था, जितना कोई आँख वाला भी नहीं देख सकता। वात्सल्य का वर्णन करते हुए वे इतने अधिक भाव–विभोर हो उठते हैं कि संसार का कोई आकर्षण फिर उनके लिए शेष नहीं रह जाता।

सूर ने कृष्ण की बाललीला का जो चित्रण किया है, वह अद्वितीय व अनुपम है। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है – ''संसार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक–एक चेष्टा के चित्राण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावो की, न भाषा की। अपने–आपको पिटाकर, अपना सर्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाल–लीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनकी बाललीला-वर्णन की प्रशंसा में लिखा है - ''गोस्वामी तुलसी जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रुप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टा का निम्न उदाहरण देखिए -

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ?
कितिक बार मोहि दूध पियत भई,
यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी
ज्यों ह्यवबै है लाँबी मोटी।।
खेलत में को काको गोसैयाँ
जाति-पाँति हमतें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।
सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेनु तन मंडित,
मुख दधि लेप किए।।

सूर के शान्त रस वर्णनों में एक सच्चे हृदय की तस्वीर अति मार्मिक शब्दों में मिलती है।

कहा करौ बैकुठहि जाय ?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा,
नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल
और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी,
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुछ पदों के भाव भी बिल्कुल मिलते हैं, जैसे–

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदर भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई।।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।

अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि।।
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा।।
दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे दगधइ,आकुल कोट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान।।

इस पद्य का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्ण रुप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा क वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं।

सुनौ स्याम ! यह बात और काउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै।।
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधो ह्मवै जाति, सकल तनु राधा - विरह रहै।।
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै।।

सूरसागर में जगह जगह दृष्टिकू टवाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए -

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग,
सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग
केलि करथि मधु पाने।।

पच्छिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आस-पास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो (संवत् 1340) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (संवत् 1560) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी 'साखी' की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित व्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है -

है हरिभजन का परवाँन।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।

भजन को परताप ऐसो
तिरे जल पापान।
अधम भील, अजाति गनिका
चढ़े जात बिवाँन।।
नवलख तारा चलै मंडल,
चले ससहर भान।
दास धू कौं अटल
पदवी राम को दीवान।।
निगम जामी साखि बोलैं
कथैं संत सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ,
राखि लेहु भगवान।।-(कबीर ग्रंथावली)
है हरि-भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो
जल तरै पाषान।
अजामिल अरु भील गनिका
चढ़े जात विमान।।
चलत तारे सकल, मंडल,
चलत ससि अरु भान।
भक्त ध्रुव की अटल पदवी
राम को दीवान।।
निगम जाको सुजस गावत,
सुनत संत सुजान।
सूर हरि की सरन आयौ,
राखि ले भगवान।।-(सूरसागर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता है कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए -

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन चंदबस किए सुनत ही कानन।।

जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गाने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदासजी का वास्तव में ये हिंदी काव्यगगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहां। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ। इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।

उत्तम पद कवि गंग के,
कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को,
सुर तीन गुन धीर।।

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है –

किधौं सूर को सर लग्यो,
किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो,
बेध्यो सकल सरीर।।

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक ओर किसी कवि की नहीं।

काहे को आरि करत मेरे मोहन !
यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर,
य है बात तेरी खोटी।।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो
हाथ लकुट लिए छोटी।।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु - तन - मंडित,
मुख दधि-लेप किए।।
सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति,
डगमगाय धरै पैयाँ।।
पाहुनि करि दै तरक मह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो,
अंचल आनि गह्यो।।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती,
दधि भ्वै ढरकि रह्यो।।

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है -

मैया कबहिं बढ़ैगी चीटी ?
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई,
वह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों
ह्यवै है लाँबी मोटी।।

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के यह वचन देखिए -

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।।

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग पक्ष है।

करि ल्यौ न्यारी,
हरि आपनि गैयाँ।
नहिंन बसात लाल कछु तुमसों
सबै ग्वाल इक ठैयाँ।

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत,
एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।।
मोहन कर तें धार चलति पय
मोहनि मुख अति ह छवि बाढ़ी।।

राधा कृष्ण के रुप वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं जिनमें उपमा, रुपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई,
नहिं पटतर एक सैन।।
राजिवदल इंदीवर, शतदल,
कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति।।
अरुन असित सित झलक पलक प्रति,
को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन
मिलि आगम कीन्हों आय।।

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं –

सींचत नैन-नीर के, सजनी ! मूल पतार गई।
बिगसति लता सभाय आपने छाया सघन भई।।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं –

उधो ! तुम अपनी जतन करौ
हित की कहत कुहित की लागै,
किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो,
हम जो कहति हैं जी की।

कछू कहत कछुवै कहि डारत,
धुन देखियत नहिं नीकी।

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्तशिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरुपण बड़े ही मार्मिक ढंग से, हृदय की अनुभूति के आधार पर तर्कपद्धति पर नहीं – किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं। जबउद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रेककर इस प्रकार पूछती हैं–

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय,
सौह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध कारक तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों ही बक बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की,
रचि पचि बात बनावत।
सगुन – सुमेरु प्रगट देखियत,
तुम तृन की ओट दुरावत।।

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह तो बताओ –

रेख न रुप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तु कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन विसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत ?

अन्त में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुण में ही अधिक रस जान पड़ता है –

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि,
मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में
निर्गुन नें अति स्वाद।।

6

कबीर

कबीर का नाम कबीरदास, कबीर साहब एवं संत कबीर जैसे–रूपों में भी प्रसिद्ध है। ये मध्यकालीन भारत के स्वाधीनचेता महापुरुष थे और इनका परिचय, प्रायः इनके जीवनकाल से ही, इन्हें सफल साधक, भक्त कवि, मतप्रवर्तक अथवा समाज सुधारक मानकर दिया जाता रहा है तथा इनके नाम पर कबीरपंथ नामक संप्रदाय भी प्रचलित है। कबीरपंथी इन्हें एक अलौकिक अवतारी पुरुष मानते हैं और इनके संबंध में बहुत–सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी सुनी जाती हैं। इनका कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त आज तक नहीं मिल सका, जिस कारण इस विषय में निर्णय करते समय, अधिकतर जनश्रुतियों, सांप्रदायिक ग्रंथों और विविध उल्लेखों तथा इनकी अभी तक उपलब्ध कतिपय फुटकल रचनाओं के अंतःसाध्य का ही सहारा लिया जाता रहा है। फलतः इस संबंध में तथा इनके मत के विषय में बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है।

संत कबीर दास हिंदी साहित्य के भक्ति काल के इकलौते ऐसे कवि हैं, जो आजीवन समाज और लोगों के बीच व्याप्त आडंबरों पर कुठाराघात करते रहे। वह कर्म प्रधान समाज के पैरोकार थे और इसकी झलक उनकी रचनाओं में साफ झलकती है। लोक कल्याण हेतु ही मानो उनका समस्त जीवन था। कबीर को वास्तव में एक सच्चे विश्व–प्रेमी का अनुभव था। कबीर की सबसे बड़ी विशेषता उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। समाज में कबीर को जागरण युग का अग्रदूत कहा जाता है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि साधना के क्षेत्र में वे युग-युग के गुरु थे, उन्होंने संत काव्य का पथ प्रदर्शन कर साहित्य क्षेत्र में नव निर्माण किया था।

जीवन परिचय

जन्म

कबीरदास के जन्म के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कबीर पन्थियों की मान्यता है कि कबीर का जन्म काशी में लहरतारा तालाब में उत्पन्न कमल के मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्म से मुसलमान थे और युवावस्था में स्वामी रामानंद के प्रभाव से उन्हें हिन्दू धर्म की बातें मालूम हुईं। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगा स्नान करने के लिये सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

हम कासी में प्रकट भये हैं,
रामानन्द चेताये।

कबीरपंथियों में इनके जन्म के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है-

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए।
घन गरजें दामिनि दमके बूँदे बरषें झर लाग गए।
लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए।

मृत्यु

कबीर ने काशी के पास मगहर में देह त्याग दी। ऐसी मान्यता है कि मृत्यु के बाद उनके शव को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। हिन्दू कहते थे कि उनका अंतिम संस्कार हिन्दू रीति से होना चाहिए और मुस्लिम कहते थे कि मुस्लिम रीति से। इसी विवाद के चलते जब उनके शव पर से चादर हटाई गई, तब लोगों ने वहाँ फूलों का ढेर पड़ा देखा। बाद में वहाँ से आधे फूल हिन्दुओं ने ले लिए और आधे मुसलमानों ने। मुसलमानों ने मुस्लिम रीति से और हिंदुओं

ने हिंदू रीति से उन फूलों का अंतिम संस्कार किया। मगहर में कबीर की समाधि है। जन्म की भाँति इनकी मृत्यु तिथि एवं घटना को लेकर भी मतभेद हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् उनकी मृत्यु संवत 1575 विक्रमी (सन 1518 ई.) मानते हैं, लेकिन बाद के कुछ इतिहासकार उनकी मृत्यु 1448 को मानते हैं।

समकालीन सामाजिक परिस्थिति

महात्मा कबीरदास के जन्म के समय में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा शोचनीय थी। एक तरफ मुसलमान शासकों की धर्मान्धता से जनता परेशान थी और दूसरी तरफ हिन्दू धर्म के कर्मकांड, विधान और पाखंड से धर्म का ह्रास हो रहा था। जनता में भक्ति- भावनाओं का सर्वथा अभाव था। पंडितों के पाखंडपूर्ण वचन समाज में फैले थे। ऐसे संघर्ष के समय में, कबीरदास का प्रार्दुभाव हुआ। जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे, उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे–एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्म-मत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुतदूसे पंडितजन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने-अपने ढंग पर भारतीय समाज और धर्म-मत को सम्भालने का प्रयत्न कर रहे थे।

साहित्यिक परिचय

कबीर सन्त कवि और समाज सुधारक थे। उनकी कविता का एक-एक शब्द पाखंडियों के पाखंडवाद और धर्म के नाम पर ढोंग व स्वार्थपूर्ति की निजी दुकानदारियों को ललकारता हुआ आया और असत्य व अन्याय की पोल खोल धज्जियाँ उड़ाता चला गया। कबीर का अनुभूत सत्य अंधविश्वासों पर बारूदी पलीता था। सत्य भी ऐसा जो आज तक के परिवेश पर सवालिया निशान बन चोट भी करता है और खोट भी निकालता है।

कबीर का समकालीन समाज

महात्मा कबीरदास के जन्म के समय में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा शोचनीय थी। एक तरफ मुसलमान शासकों की

धर्मान्धता से जनता परेशान थी और दूसरी तरफ हिन्दू धर्म के कर्मकांड, विधान और पाखंड से धर्म का ह्रास हो रहा था। जनता में भक्ति- भावनाओं का सर्वथा अभाव था। पंडितों के पाखंडपूर्ण वचन समाज में फैले थे। ऐसे संघर्ष के समय में, कबीरदास का प्रार्दुभाव हुआ। जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे, उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे–एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्म–मत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति–व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुत से पंडितजन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने–अपने ढंग से भारतीय समाज और धर्म–मत को सम्भालने का प्रयत्न कर रहे थे।

भारतवर्ष कोई नया देश नहीं है। बड़े–बड़े साम्राज्य उसकी धूल में दबे हुए हैं, बड़ी–बड़ी धार्मिक घोषणाएँ उसके वायुमण्डल में निनादित हो चुकी हैं। बड़ी–बड़ी सभ्यताएँ उसके प्रत्येक कोने में उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं। उनके स्मृति चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े हैं मानों अट्टाहास करती हुई विजयलक्ष्मी को बिजली मार गई हो। अनादिकाल से उसमें अनेक जातियों, कबीलों, नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोशों के झुण्ड इस देश में आते रहे हैं। कुछ देर के लिए इन्होंने देश के वातावरण को विक्षुब्ध भी बनाया है, पर अन्त तक वे दखल करके बैठ जाते रहे हैं और पुराने देवताओं के समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे हैं–कभी–कभी अधिक सम्मान भी पा सके हैं। भारतीय संस्कृति कि कुछ ऐसी विशेषता रही है कि उन कबीलों, नस्लों और जातियों की भीतरी समाज–व्यवस्था और धर्म–मत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया है और फिर भी उनको सम्पूर्ण भारतीय मान लिया गया है। भागवत में ऐसी जातियों की एक सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई हैं। इनमें किरात हैं, हूण हैं, आंध्र हैं, पुलिंद हैं, पुक्कस हैं, आभीर हैं, शुंग हैं, यवन हैं, खस हैं, शक हैं और भी निश्चय ही ऐसी बहुत सी जातियाँ हैं, जिनका नाम भागवताकार नहीं गिना गए।

समकालीन भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति इतने अतिथियों को अपना सकी थी, इसका कारण यह है कि बहुत शुरू से ही उसकी धर्म-साधना वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्ति को

अलग से धर्मोपासना का अधिकार है। झुँड बाँधकर उत्सव हो सकते हैं, भजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने किए का जिम्मेदार आप ही है। श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म-मत को मानना या देव विशेष की पूजा करना नहीं बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजों के बताए धर्म पर दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नहीं करता बल्कि स्वधर्म में मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर वंश का हो या पुक्क्स श्रेणी का कुलीनता पूर्वजन्म के कर्म का फल है। चारित्र्य इस जन्म के कर्म का प्रतीक है।

कबीरदास का मानना था। कि देवता किसी एक जाति की सम्पत्ति नहीं हैं, वे सबके हैं, और सब पूजा के अधिकारी हैं। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हों कि उनकी पूजा का माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाज को इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। ब्राह्मण मातंगी देवी की पूजा करेगा पर मातंग के जरिए। क्या हुआ जो कि मातंग चांडाल है। राहु यदि प्रसन्न होने के लिए डोमों को ही दान देना अपनी शर्त रखते हैं तो डोम सही हैं। समस्त भारतीय समाज डोम को ही दान देकर ग्रहण के अनर्थ से चन्द्रमा की रक्षा करेगा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने समस्त जातियों को उनकी सारी विशेषताओं समेत स्वीकार कर लिया। पर अब तक कोई ऐसा 'मजहब' उसके द्वार पर नहीं आया था। वह उसको हजम कर सकने की शक्ति नहीं रखता था।

'मजहब' क्या है?

मजहब एक संगठित धर्म-मत है। बहुत से लोग एक ही देवता को मानते हैं, एक ही आचार का पालन करते हैं, और किसी नस्ल, कबीले या जाति के विशेष व्यक्ति को जब एक बार अपने संघटित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएँ दूर कर उसी विशेष मतवाद को स्वीकार कराते हैं। यहाँ धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधिनिषेध एक दूसरे में गुंथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। एक जाति का एक व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता, परन्तु मजहब ठीक इससे उल्टा है। वह व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। भारतीय समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह है, परन्तु किसी मजहब के व्यक्ति बृहत समूह के अंग हैं। एक का व्यक्ति अलग हस्ती रखता है, पर अलग नहीं हो सकता, दूसरे का अलग हो सकता है, पर अलग सत्ता नहीं रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज संगठन से बिल्कुल उल्टे तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता को लोप करके समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्र बिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था। कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है। फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यों न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था। कि इस्लाम ने जो धर्म-मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेने वाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी है। जो इस धर्म-मत को नहीं मानता वह अनन्त नरक में जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया की उसके आचार और मत को न मानने वाली जाति का संराय तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। किसी और का परम कर्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिए जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के संराय को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाए जाने वाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ ही नहीं सका इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुंठित हो गई। वह विक्षुब्ध सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुंठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

धर्माचार का पालन

ऐसा जान पड़ता है, पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इस्लाम के आने से पहले इस विशाल जनसमूह का कोई एक नाम तक नहीं था। अब इसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इस्लामी मत। स्पष्ट ही गैर-इस्लामी मत में कई तरह के मत थे। कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों में परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परम्परा प्राप्त मतों का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचार की विशाल वनस्थली में से रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त्त पंडितों ने इसी दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया। सारे देश में शास्त्रीय वचनों की छानबीन होने लगी। उद्देश्य था। कि इस प्रकार का सर्वसम्मत मत निकाल लिया जा सके, श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके,

उत्सने-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषी का शास्त्रों को आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनंदन तक बहुतेरे पंडितों ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र वाक्यों की छानबीन से एक बहुत कुछ मिलता-जुलता आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर किया जा सका निबन्ध ग्रन्थों की यह एक बहुत बड़ी देन है। जिस बात को आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं, उसका प्रथम भित्तिदृस्थापन इन निबन्ध ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्न की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचार-प्रवणता ही थी। जो नया धर्म-मत भारतीय जन समाज को संक्षुब्ध कर रहा था। वह इस आचार को कोई महत्त्व ही नहीं देता था। उसका संगठन बिल्कुल उल्टे किनार से हुआ था। उसके मूल में ही सबको स्वीकार करने का सिद्धांत काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्यों को नतशिर से स्वीकार करके ही यह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वन्द्वी से काम पड़ा था। वह बहुत वर्जनाग्रही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्व अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था। और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था। जबकि हिन्दू समाज धार्मिक साधनों को स्वीकार कर सकता था। पर किसी व्यक्ति विशेष को धर्म-मत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्म-मत शामिल कर लेने को परम कर्तव्य समझता था। परन्तु किसी विशेष धर्म साधना को अपने किसी व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबन्ध ग्रन्थों ने हिन्दू को और भी अधिक हिन्दू बना दिया, पर मुसलमानों को आत्मसात करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र बिन्दु हो गई। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपंथी योगियों का था। हमने पहले ही देखा है कि लोग शास्त्रीय स्मार्त्त मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रायी (अर्थात् 'उपनिषद' 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता') पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी काल नहीं थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियों के द्वारा वे काफी सम्मान और संभ्रम के

पात्र बन गए थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण तत्त्व के उपासक थे। साधनाओं के द्वारा, जिन्हें का साधन कहते थे, लोग परम-तत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी आनहीं होते थे पर उनके शिष्यों में बहुत से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे, जो कि योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दू धर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उल्टे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे - क्योंकि वह हिन्दुओं के किसी मत या आचार के काल न थे - और न ही मुसलमान - क्योंकि इन्होंने इस्लाम धर्म-मत को स्वीकार नहीं किया था। कुछ काल के इस्लामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म - मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

धार्मिक आन्दोलन

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आंदोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आई। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाए थे। वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ कर दिया। फिर भी ये लोग आचार प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका यहाँ पर यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी। जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्था को एक भूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही जा रही थी। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समाज था। जो कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अंगीकार करने को प्रतिबद्ध था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्म-मत को स्वीकार कर ले। समाज से दंड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक

सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे समय में दक्षिण से वेदांत भावित भक्ति का आगमन हुआ, जो कि विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया। डॉ. ग्रियर्सन ने कहा था।-

'बिजली के चमक के समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतों के) अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। यह भक्ति का आंदोलन है।'

इसने दो रूपों में आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारों को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र करके प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आंतरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का एक ने श्रृद्धा को पथप्रक-प्रथक माना, दूसरी ने ज्ञान को। एक ने सगुण भगवान को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवन को, पर प्रेम दोनों ही का मार्ग था। सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था। केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं थेय आंतरिक प्रेम निवेदन दोनों को अभीष्ट था। अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थीय बिना शर्त के भगवान के प्रति आत्म-समर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों ही एक थे। सबसे बड़ा अंतर इनके लीला सम्बन्धी विचारों में था। दोनों ही भगवान की प्रेम लीला में विश्वास करते थे। दोनों का ही अनुभव था। कि लीला के लिए इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भय यह था। कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान को ही परम काम्य मानते थे।

कबीर और उनका साहित्य

भक्ति साहित्य की निर्गुण शाखा में संत कबीरदास ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वैसी न तो उनसे पहले और न बाद में ही किसी अन्य को मिली। उनके समकालीन भक्त-कवियों ने भी बहुत सम्मान से कबीर का नाम लिया है और उनके प्रभाव को स्वीकारा है। आज भी बहुत बड़ी संख्या में लोग कबीर के अनुयायी हैं।

कबीर का जन्म काशी में ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा, संवत 1456 को हुआ माना जाता है। इनके जन्म के बारे में एक किंवदंती प्रचलित है कि स्वामी रामानंद ने एक बार भूलवश अपने किसी भक्त ब्राह्मेण की विधवा कन्या को पुत्रवती होने

का आशीर्वाद दे दिया। फलस्वरूप उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लोक-भय से लहरतारा ताल के पास फेंक आई। वहाँ से नीरू नामक मुसलमान जुलाहा उसे अपने घर ले गया और पुत्रवत उसका लालन-पालन करने लगा। कालांतर में यही बालक कबीरदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बचपन से ही कबीर में हिंदू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति स्पष्ट थी और वे 'राम-राम' जपा करते थे। उस समय सारे भारत में रामानुज की शिष्य परंपरा के स्वामी रामानंद का प्रभाव फैल रहा था। एक बार कबीर भी उनके शिष्यत्व की आस में पहर रात रहते पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जहाँ स्वामी जी प्रतिदिन स्नान करने आते थे। अंधेरे में उनका पैर कबीर को लग गया और वे अनायास 'राम-राम कह' बोल पड़े। इसी को कबीर ने गुरुमंत्र मान लिया और स्वयं को रामानंद का शिष्य कहने लगे।

अनेक साधुओं के सत्संग में कबीर ने ज्ञानार्जन किया। इन में नाथ-सिद्ध परंपरा के जोगी भी थे, वैष्णव साधु भी और सूफी फकीर भी। इसी क्रम में कबीर प्रसिद्ध सूफी शेख तकी से भी मिले जिन्हें कबीर के मुसलमान अनुयायी इनका गुरु मानते हैं। परंतु कबीर ने शेख तकी का नाम कहीं भी उस श्रद्धा से नहीं लिया जितना स्वामी रामानंद का लिया है या जिस से गुरु का लिया जाता है। इन सबके विचारों का कबीर पर सम्यक प्रभाव पड़ा और उनके 'राम' स्वामी रामानंद के साकार राम न रहकर ब्रह्म का प्रतीक हो गये।

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

कबीर ने इन सभी मतों से कुछ बातें लेकर अपना पंथ चलाया। इसके लिये उन्होंने अद्वैत की अवधारणा भारतीय ब्रह्मवाद से ली तो वैष्णवों से अहिंसा और सभी में ईश्वर का वास होने की विचार लिया। नाथ -सिद्धों से उन्होंने अंतस्साधना की विधि ग्रहण की तो सूफी फकीरों से प्रेम का तत्त्व लिया। वे अत्यंत प्रखर बुद्धि के स्वामी थे। अनपढ़ होने के बावजूद उन्होंने अपने काव्य में अनेक सुंदर और चमत्कारी बिंब और रूपकों का समावेश करते हुये, सामान्य जनता पर अपने ज्ञान और भक्ति की धाक जमा ली थी। उनका विषद प्रभाव इसी से पता चल जाता है कि आज भी सामान्य जनता में कबीर के जितने दोहे और सबद लोकप्रिय हैं उतने अन्य किसी ज्ञानमार्गी संत के नहीं। इनके बिंब और अन्योक्तियों की एक क्षलक इस प्रकार हैं-

सूर समाना चंद में, दहूँ किया घर एक।
मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख॥
है कोई गुरुज्ञानी जगत मँह उलटि बेद बूझै।
पानी मँह पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥

उनके काव्य का प्रमुख विषय विभिन्न धर्मों में व्याप्त कुरीतियों व अंधविश्वासों का विरोध करते हुये अपने विचारों का प्रचार करना है। इस क्रम में उन्होंने तत्कालीन समाज में फैली बुराइयों पर कड़ा प्रहार किया और शायद इसी कारण उनकी गिनती धर्मसुधारकों में होती है।जहाँ हिंसा के लिये वे लोगों को फटकारते हैं–

बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल॥

वहीं धर्म के बाह्याडंबरों पर भी उनका स्वर कमजोर नहीं पड़ता –

कंकड़ पाथर जोड़कर, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

विभिन्न धर्मों की एकता पर उनका एक दोहा देखें

गहना एक कनक तें गहना, इन मँह भाव न दूजा।
कहन-सुनन को दुइ करि थापिन, इक नमाज इक पूजा॥

कबीर की काव्य भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'सधुक्कड़ी' कहते हैं जिसमें तत्कालीन सर्वस्वीकृत काव्य-भाषा ब्रज के अलावा अवधी, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी तक का प्रयोग मिलता है। इससे उनके सत्संग और देशाटन का स्पष्ट परिचय मिलता है। काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों में भी एक ओर तो वैष्णवों के माया, जीव, तत्त्वमसि, पंचभूत, अष्ट-मैथुन हैं तो दूसरी तरफ हठयोगियों के चंद, सूर, नाद, बिंदु आदि प्रतीक हैं। सूफी परंपरा की दाम्पत्य प्रेम-पद्धति का भी अनुकरण कई जगह उन्होंने किया है।

साई के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न जाना, गा जीवन सपने की नाई॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माढ़ो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर स्वयं अनपढ़ थे। उनके उपदेशों का संग्रह संवत 1521 में उनके शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नाम से किया। संवत 1561 में कबीर का देहावसान

मगहर में हुआ जहाँ वे मगहर में मृत्यु होने पर नर्क मिलने के अंधविश्वास के निराकरण के लिये अंतिम समय में काशी छोड़कर जा बसे थे।

अंत में कबीर के ब्रज भाषा में लिखे एक पद के साथ, हम उनके व्यक्तित्त्व व कृतित्त्व को समझने के अपने इस क्षुद्र प्रयास को विराम देते हैं-

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि, गोसाई, अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचे भाँड़े नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधे धीर।
देह छता तुम मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥

7

भारतीय आर्य भाषा

भारतीय आर्यभाषा का महत्त्व संसार की सभी भाषाओं में सार्वाधिक है। ये भाषाएं समृद्ध साहित्य व्याकरण के सम्मत रूप और प्रयोग आधार पर अपनी पहचान के साथ सामने आई है।

भारतीय आर्यभाषा का विभाजन

भारतीय आर्यभाषा की पूरीशृंखला को 3 भागों में विभाजित किया जाता है–

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं (प्रा. भा. आ.) – 1500 ई. पू. से 500 ई. पू. तक।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएं (म. भा. आ.) – 500 ई. से 1000 ई. पू. तक।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं (आ. भा. आ.) – 1000 ई. सन् से अब तक।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ

इनका समय 1500 ई. पू. तक माना जाता है। वस्तुतः यह विवादास्पद विषय है। इस वर्ग में भाषा के दो रूप उपलब्ध होते है– (i) वैदिक या वैदिक संस्कृत, (ii) संस्कृत या लौकिक संस्कृत। इन दोनों का भी पृथक–पृथक परिचय अपेक्षित है।

वैदिक या वैदिक संस्कृत

इसे 'वैदिक भाषा', 'वैदिकी', छान्द या 'प्राचीन संस्कृत' भी कहा जाता है। वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। यद्यपि अन्य तीनों संहिताओं, ब्राह्मणो-ग्रन्थों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि की भाषा भी वैदिक ही है, किन्तु इन सभी में भाषा का एक ही रूप नहीं मिलता। 'ऋग्वेद' के दूसरे मण्डल से नौवें मण्डल तक की भाषा ही सर्वाधिक प्राचीन है। यह 'अवेस्ता' के अत्यधिक निकट है। शेष संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों में भाषा ही प्राचीनतम है, जिनमें आर्यो का वातावरण तत्कालीन पंजाब के वातावरण से मिलता-जुलता वर्णित है। इसी प्रकार वैदिक भाषा के दो अन्य रूप-दूसरा और तीसरा भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं। दूसरे रूप मध्यदेशीय भारत का तथा तीसरे रूप पूर्वी भारत का प्रभाव लक्षित होता है। ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा का प्रवाह अनेक शताब्दियों तक रहा होगा।

विद्वानों का विचार है कि वैदिक भाषा का जो रूप हमें आज वैदिक साहित्य, विशेषत: ऋग्वेद में मिलता है, वह तत्कालीन साहित्यक भाषा ही थी, बोलचाल की भाषा नहीं। तत्कालीन बोलचाल की भाषा को जानने का कोई साधन आज हमें उपलब्ध नहीं है। हाँ, साहित्यक वैदिक के आधार पर हम उसका कुछ अनुमान अवश्य ही कर सकते हैं।

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ मूलभारोपीय ध्वनियों से कई बातों से भिन्न हैं-

मूलभारोपीय तीन मूल स्व स्वर - अ, ऐ, ओं के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'अ' ही मूल ह्रस्व स्वरशेष है।

मूलभारोपीय तीन मूल दीर्ध स्वरों - आ, ऍ, ओ के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'आ' ही मूल दीर्घशेष है।

मूलरूपों में प्राप्त न् म् अन्तस्थ ध्वनियों का वैदिक में लोप हो गया है।

मूलभारोपीय में तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियां थीं, किन्तु वैदिक में एक ही प्रकार की कवर्ग ध्वनियां हैं।

मूलभारोपीय में ववर्ग तथा टवर्ग का नितान्त अभाव था, जबकि वैदिक ध्वनियों में ये दो वर्ग आ मिले जिसका कारण द्रविड़ भाषा का प्रभाव है।

मूलभारोपीय में एक ही 'स' ध्वनि थी। वैदिक में इसके साथ ही श् तथा 'ा ये दो ध्वनियांऔर आ जुड़ी हैं।

वैदिक भाषा की विशेषताएँ

प्रत्येक भाषा का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है। प्रत्येक भाषा अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अपना पृथक् अस्तित्त्व रखती है। किसी भाषा की ऐसी विशेषताएँ ही उसे अन्य भाषाओं से पृथक् करती हैं। इस दृष्टि से वैदिक भाषा की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यहां प्रस्तुत हैं :–

वैदिक भाषा में स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण के साथ ही उनका प्लुत उच्चारण भी होता है, जैसे,आसी त् विन्दती इत्यादि।

वैदिक भाषा में 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

वैदिक भाषा में संगीतात्मक स्वरघात का बहुत महत्त्व है। इसमें तीन प्रकार के स्वर हैं - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में इनका ध्यान रखना अनिवार्य होता है। स्वर-परिवर्तन से शब्दोंके अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। 'इन्द्रशत्रु' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी वैदिक भाषा की स्वराघात प्रधानता का बहुत महत्त्व है।

वैदिक भाषा की व्यद्रजन ध्वनियों में ळ् और ळह् दो ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो उसे अन्य भाषा से पृथक् करती हैं, जैसे–'इळा', 'अग्निमीळे' आदि में।

प्राचीन वैदिक भाषा में 'ल' के स्थान पर प्रायः 'र का व्यवहार मिलता है, जैसे– 'सलिल' के स्थानपर 'सरिर'।

वैदिक भाषा में सन्धि-नियमों में पर्याप्त शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। अनेक बार सन्धि-योग्य स्थलों पर भी सन्धि नहीं होती और दो स्वर साथ-साथ प्रयुक्त हो जाते हैं, जैसे– 'तितउ' (अ, उ) 'गोओपशा' (ओ, औ)

वैदिक भाषा में शब्द रूपों में पर्याप्त अनेकरूपता मिलती है। उदाहरण के लिए प्रथमा विभक्ति, द्विवचन,'देवा' और 'देवौ', प्रथमा विभक्ति बहुवचन में 'जनाः' और जनासः, तृतीय विभक्ति बहुवचन में 'देवैः' और'देवेभिः' दो-दो रूप मिलते हैं। यह विविधता अन्य रूपों में भी मिलती है।

यही विविधता धातुरूपों में भी उपलब्ध है। एक ही 'कृ' धातु के लट्-लकार, प्रथम पुरुष में- 'कृणुते', 'करोति','कुरुते', 'करति' आदि अनेक रूप मिलते हैं।

धातुओं से एक ही अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं। जैसे, एक ही 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में 'तुमुन्', 'से','सेन', 'असे', 'असेन्', 'कसे', 'कसेन्', 'अध्यै', 'अध्यैन्', 'कध्यै', 'कध्यैन', 'शध्यैन', 'शध्यैन्', 'तवै', 'तवैड्', और 'तवैड्',और 'तवेन्'- ये 16 प्रत्यय मिलते हैं।

वैदिक भाषा में उपसर्गों का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से होता था। उदाहरणार्थ अभित्वा पूर्वपीतये सृजामि'', (ऋग्वेद यहाँ 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग 'सृजामि' क्रियापद से पृथक् स्वतन्त्ररूप से हुआ है। इसी प्रकार ''मानुषान्-अभि'' (ऋ. 'अभि' स्वतन्त्ररूप से प्रयुक्त है।)

पदरचना की दृष्टि से वैदिक भाषा श्लिष्टयोगात्मक है। सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) के जुड़ने पर यहां अर्थतत्त्व (प्रकृति)में कुछ परिवर्तन तो हो जाता है, किन्तु अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व को पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है। जैसे– 'गृहाणाम्', यहां 'गृह' प्रकृति तथा 'नाम्' प्रत्यय स्पष्ट रूप से पहचाने जाते हैं।

संक्षेप में, वैदिक भाषा में प्रयोगों की अनेकरूपता को देखने से प्रतीत होता है कि आज वैदिक भाषा का जो स्वरूप हमें उपलब्ध होता है, वह तत्कालीन अनेक बोलियों का मिला-जुला रूप है, जिनमें देश-भिन्नता तथा काल-भिन्नता, दोनों का ही होना संभव है। संभवतः, उस काल की जनसामान्य की विविध बोलियों का ही, हिन्दी में खड़ी बोली के समान, एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप वह वैदिक भाषा है, जो हमें आज 'ऋग्वेद' आदि में उपलब्ध होती है।

संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का दूसरा रूप 'संस्कृत' है। इसी को 'लौकिक संस्कृत' या 'क्लासिकल संस्कृत' भी कहा जाता है। यूरोप में जो स्थान 'लैटिन' भाषा का है, वही स्थान भारत में संस्कृत का है। भारत में 'रामायण" महाभारत' से भी पहले से लेकर आज तक संस्कृत में साहित्य रचना हो रही है। गुप्तकाल में संस्कृत की सर्वाधिक उन्नति हुई थी। इसका साहित्य विश्व के समृद्धतम साहित्यों में से एक है। 'वाल्मीकि', 'व्यास', 'कालीदास',आदि इसकी महान् विभूतियाँ हैं। विश्व-विख्यात महाकवि कालीदास का 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक संस्कृत भाषा श्रृंगार है। विश्व की अनेक भाषाओं में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत का महत्त्व बहुत अधिक है। संस्कृत के अध्ययन के कारण ही यूरोप में आधुनिकयुग में 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' का प्रारम्भ हुआ है।

संस्कृत का विकास उत्तरी भारत में बोली जाने वाली वैदिककालीन भाषा से माना जाता है, यद्यपि भारत के मध्य भाग तथा पूर्वी भाग की बोलचाल की भाषाओं का प्रभाव भी उसपर रहा होगा। लगभग 8 शताब्दी ई.पू.में इसका प्रयोग साहित्य में होने लगा था। यह वह अवस्था है, जब संस्कृत की आधारभूत भाषा

का प्रयोग बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा दोनों के रूप में हो रहा था। अनुमान किया जाता है कि लगभग ई. पू. 5 वीं शताब्दी या कुछ क्षेत्रों में उसके बाद तक संस्कृत की आधारभूत यह भाषा बोली जाती थी और तब तक उत्तर भारत में कई अन्य ऐसी बोलियाँ भी जन्म ले चुकी थीं, जिनसे आगे चलकर अनेक प्राकृतों,अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ है।

लगभग ई. पू. 5 वीं शताब्दी या 7 वीं शताब्दी में 'पाणिनी' ने संस्कृत की उस आधारभूत भाषा को व्याकरण के नियमों से बद्ध करके एकरूपता प्रदान की ओर यह भाषा 'संस्कृत' कहलाने लगी। अर्थात् अपने स्वाभाविक विकास के कारण, नियन्त्रण के हिन्दी भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अभाव में जो भाषा प्राकृत (विकृत) रूपमें चल रही थी, वह तब 'संस्कृत' हो गयी। उसका संस्कार कर दिया गया, उसे शुद्ध रूप प्रदान कर दिया गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस काल में 'संस्कृत' साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी, उस समय भारत में स्वयं साहित्यिक संस्कृत की आधारभूत बोली तथा उससे मिलती-जुलती कई अन्य बोलियाँ भी व्यवहार में थी, किन्तु उन सबमें 'संस्कृत' ही शिष्ट, साहित्यिक या राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी।

संस्कृत ध्वनियां

वैदिक भाषा में 52 ध्वनियां थी, संस्कृत में ध्वनियों की संख्या केवल 8 है। अर्थात् वैदिक भाषा की ध्वनियां- जिह्वामलीय तथा उपध्मानीय-संस्कृत में नहीं मिलती हैं।

इसके साथ ही अनेक ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन भी मिलता है। उदाहरण के लिए (1) वैदिक में 'ऋ'और 'लृ' का उच्चारण स्वर ध्वनियों के रूप में था, किन्तु संस्कृत में इनकी स्वरता नष्ट हो गयी और इनका उच्चारण 'र और 'ल' व्यद्रजनों जैसा होने लगा। (2) दन्तोष्ठय 'ठ' का उच्चारण भी अन्तस्थ 'व' जैसा ही हो गया है। (3) वैदिक भाषा की शुद्ध 'अनुस्वार (-) ध्वनि भी संस्कृत में अनुनासिक हो गयी है। (4) 'ऐ' तथा'औ' का उच्चारण संयुक्त स्वरों जैसा न होकर मूलस्वरों-जैसा होने लगा।

संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

संस्कृत, लौकिक संस्कृत वा क्लास्किल संस्कृत की सबसे प्रमुख विशेषता पाणिनिकृत नियमबद्धता है। संस्कृत की विशेषता ही उसे वैदिक से

पृथक् करती है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, वैदिक भाषा में शब्द-रूपों तथा क्रिया-रूपों की विविधता है, सन्धि-नियमों आदि में भी पर्याप्त शिथिलता है। एक ही अर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का प्रयोग है, आदि-आदि। इन सब के साथ ही वैदिक भाषा में अपवादों की संख्या भी बहुत अधिक है तथा भाषा में स्वच्छन्दता की प्रवृति दृष्टिगोचर होती है।

इसके विपरीत, संस्कृत या लौकिक संस्कृत बहुत ही नियमबद्ध तथा नियिन्त्रत है। उसकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है--

वैदिक भाषा में प्रयुक्त ळ्, ळ्], जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का संस्कृत में लोप हो गया है।

पाणिनि कृत नियमों (अष्टाध्यायी-सूत्रों) के द्वारा उसमें शब्द-रूपों तथा क्रियारूपों में एकरूपता आ गयी है।

'लट्' लकार का प्रयोग समाप्त हो गया है।

एक ही अर्थ में प्रयुक्त अनेक प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय का प्रयोग रूढ़ हो गया जैसेतुमुन', 'क्त्वा' आदि।

अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग बन्द हो गया जैसे- 'दर्शत' (=सुन्दर), 'दृशीक' (=सुन्दर), 'रपस्' (=चोट, दुर्बलता,रोग), 'अमूर' (=बुद्धिमान्) 'मूर' (=मूढ़), 'ऋदूदर' (=दयालु), 'अक्तु' (=रात्रि), 'अमीवा' (=व्याधि) आदि।

अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग संस्कृत में भिन्न अर्थों में होने लगा जैसे-

शब्द वैदिक-अर्थ संस्कृत-अर्थ

अराति = शत्रुता = शत्रु

अरि = ईश्वर, धार्मिक शत्रु, = केवल शत्रु

न = उपमावाचक (जैसा), = निषेधवाचक (नहीं)

निषेधवाचक (नहीं)

मृळीक = कृपा = शिव का एक नाम

क्षिति = गृह, निवासस्थान = पृथ्वी

बस्ती, मनुष्य

वध = भंयकर शस्त्रा= हत्या करना आदि - आदि

सन्धि-कार्य अनिवार्य-सा हो गया।

उपसर्गो का स्वतन्त्राप्रयोग बन्द हो गया।

स्वरों में 'लृ' प्रायः लुप्त-सा हो गया। स्वरों का उदत्त-अनुदत्त और स्वरित उच्चारण समाप्त हो गया।

स्वरभक्ति अप्रचलित हो गयी।

इस प्रकार वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा अधिक नियमित एवं व्यवस्थित हो गयी तथा वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत के रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन को जानने के लिए यहाँ दोनों की तुलनाप्रस्तुत करना आवश्यक है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

लौकिक संस्कृत एक तरफ व्याकरण का आधार पाकर अपने निश्चित रूप में स्थिर हो गई, तो दूसरी तरफ लोक-भाषा तेजी से विकसित हो रही थी। इसी विकास के परिणामस्वरूप प्राकृत भाषा का विकास-काल ईपू.500 से 1000 ई. माना जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं-

पाली

यह प्राकृत का प्रारम्भिक रूप है जिसका समय 500 ई. पू. के प्रथम शताब्दी के प्रारम्भतक माना गया है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि संस्कृत की उत्पत्ति प्राकृत से हुई है। एक अन्य मत के अनुसार संस्कृत के समानान्तर, लोक भाषा से इसका उद्‌भव हुआ है। इसमें प्रथम मन्तव्य अधिक उपयुक्त लगता है।

विशेषताएँ

इसमें से ऋ, लृ, ऐ, औ, श, 'ष, तथा विसर्ग आदि वैदिक ध्वनियाँ लुप्त हो गई हैं।

पाली में प्रायः संस्कृत की ए ध्वनि ऐ और ओ ध्वनि औ हो गई है, यथा-कैलाश-केलाश, गौतम-गोतम।

इसमें विसर्ग सन्धि नहीं है।

पाली में तीनों लिंग हैं।

द्विवचन की व्यवस्था नहीं है।

इसमें बलाघात का प्रयोग होता है।

पाली में परम्परागत तद्‌भव शब्दों की बहुलता है।

प्राकृत

इसे द्वितीय प्राकृत और साहित्यिक प्राकृत भी कहते हैं। इसका काल प्रथम शताब्दी से 5वीं शताब्दी तक है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके भिन्न-भिन्न रूप विकसित हो गये थे।

मागधी –

इसका विकास मगध के निकटवर्ती क्षेत्र में हुआ। इसमें कोई साहित्यिक कृति उपलब्ध नहीं है।

विशेषताएँ

इसमें –, स का – रूप हो जाता है, यथा – सप्त-त्त, पुः– पुलिस।
इसमें र का ल हो जाता है, यथा – पुरुष-पुलिश
ज के स्थान पर य हो जाता है, यथा – जानाति-याणदि।

अर्ध मागधी –

यह मागधी तथा शौरसेनी के मध्य बोली जाने वाली भाषा थी। यह जैन साहित्यकी भाषा थी। भगवान महावीर के उपदेश इसी में है।

विशेषताएँ

इसमें श, 'ष, स के लिए केवल स का प्रयोग होता है– यथा- श्रावक झ सावग।

इसमें दन्त्य ध्वनियाँ मूर्धन्य हो जाती है, यथा – स्थिर-ठिय।

स्पर्श ध्वनि के लोप पर य श्रुति मिलती है, यथा- सागर-सायर, गगन-गयन

महाराष्ट्री –

इसका मूल स्थान महाराष्ट है। इसमें प्रचुर साहित्य मिलता है। गाहा सत्तसई (गाथा।सप्तशती), गडवहो (गौडवध) आदि काव्य ग्रन्थ इसी भाषा में है।

विशेषताएँ

स्वर बाहुल्य और संगीतात्मकता है।

श, 'ष, स, का ह हो जाता है, यथा - दश-दह, दिवस-दिवह।

दो स्वरों के मध्य व्यंजन लोप हो जाता है, यथा- रिपु-रिक, नुपुर-णेउर।

क्ष का च्छ हो जाता है, यथा- इक्षु-इच्छु।

कुछ महाप्राण ध्वनियाँ ह में परिवर्तित हो जाती है, यथा- शाखा-शाहा, अथ-अह।

पैशाची -

इसका क्षेत्र कश्मीर माना गया है। ग्रियर्सन ने इसे दर्द से प्रभावित माना है। साहित्यक रचना की दृष्टि से यह भाषा शून्य है।

विशेषताएँ

सघोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती है– यथा- नगर-नकर।

र और ल का विपयर्य हो जाता है, यथा- कुमार-कुमाल, रूधिर-लुधिर।

ष का स या श हो जाता है, यथा- तिष्ठति-तिश्तदि, विषम-विसम।

शौरसेनी -

यह मध्य की भाषा थी। इसका केन्द्र मथुरा था। नाटकों में स्त्राी-पात्रों के संवाद इसी भाषा में होते थे। दिगम्बर जैन से सम्बधित धर्मग्रन्थ इसी में रचे गए हैं।

विशेषताएँ

इसमें क्ष का क्ख हो जाता है, यथा- चक्षु-चक्खु।

इसमें न ध्वनि ण हो जाती है, यथा- नाथ-णाथ।

इसमें आत्मनेपद लगभग समाप्त है, केवल परस्मैपद मिलता है।

अपभ्रंश

इसका शाब्दिक अर्थ है - विकृत या भ्रष्ट। इसका प्राचीनतम रूप भरतमुनि के नाट्यशास्त्रामें मिलता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के कुछ पद मिलते हैं।अपभ्रंश में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं हुई हैं, यथा- विद्यापति कृत कीर्तिलता, अद्दहमाण कृत संदेश-रासक आदि। इसका समय 500 ई. से 1000 ई. तक माना जाता है, किन्तु इसमें कुछ एक रचनाएं 14वीं और 15वीं शताब्दी तक होती रही हैं।

ऋ ध्वनि लेखन में थी, उच्चारण में लुप्त हो चुकी थी।
श, 'ष के स्थान पर प्रायः स का प्रयोग होता है।
इसमें उ ध्वनि की बहुलता है, यथा- जगु, एक्कु, कारणु आदि।
म के स्थान पर वं ध्वनि होती है, यथा- कमल-कंवल।
क्ष का क्ख हो जाता है, यथा- पक्षी-पक्खी।
य ध्वनि ज हो जाती है, यथा- यमुना-जमुना, युगल-जुगल।
नपुंसक लिंग और द्विवचन लुप्त हो चुके हैं।
इसमें तद्भव शब्दों की बहुलता मिलती है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं का परिचय

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव 1000 ई. के लगभग हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं का काल तबसे अब तक माना गया है। इस काल में प्रयुक्त भाषाओं की गणना आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में की जाती है। इस वर्ग की भाषाओं के विकास के कुछ समय पश्चात् से सम्बन्धित साहित्य प्राप्त होता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों में हुआ है। इसलिए इन दोनों वर्गों की भाषाओं में पर्याप्तसमता है और अनेक भिन्न विशेषताओं का भी विकास हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर इन्हें अन्य वर्ग की भाषाओं से अलग कर सकते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ

पूर्वकालिक भाषाओं की ध्वनियों के आधार पर इस काल की भाषा की ध्वनियों में कुछ प्रमुख विकास इस प्रकार हुए हैं –

''ऋ'' का लिखित रूप में प्रयोग होता है, किन्तु उच्चारण स्वर के रूप में न होकर ''रि'' के रूप में होता है। ''ऋ'' का लिखित रूप में प्रयोग प्रायः तत्सम शब्दों में होता है, यथा- ऋषि, ऋतु आदि।

ऊष्म व्यंजन ध्वनियों-श, 'ा, स का लिखित रूप में पूर्ववत् प्रयोग होता है, किन्तु उच्चारण में ''श''और ''स'' दो ही ध्वनियाँ हैं। ''ष'' ध्वनि का उच्चारण अब लगभग ''श'' के ही समान होता है, यथा-कोष – ''कोश, ऋषि ''रिशि, दोष –''दोश। वर्तमान समय में ''कोष'' के स्थान पर ''कोश'' शब्दका लिखित रूप भी प्रचलित हो गया है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ''ड'', ''ढ'' के साथ ''ड़'' और ''ढ़'' मूर्धन्य ध्वनियों का विकास हो गया है। इसके प्रयोग द्रष्टव्य हैं- सड़क, तड़क, पढ़ना, गढ़ना आदि। इन ध्वनियों के लिखित तथा उच्चारित रूपों का स्पष्ट प्रयोग होता है।

''ज्ञ'' संयुक्ताक्षर का शुद्ध उच्चारण ''ज्ञ'' है, किन्तु आज इसके उच्चारण बदलकर ग्य, ग्यँ, ज्यँ रूपहो गए हैं, यथा- ज्ञान-ग्याँन, ज्ञापन-ग्यापन, ग्याँपन, ज्याँपन। इनमें ''ग्य'' तथा ग्यँ के तो पर्याप्तप्रयोग मिलते हैं, जबकि ज्यँ का अत्यन्त सीमित प्रयोग होता है।

विदेशी भाषाओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं में कुछ विदेशी ध्वनियों को स्थान मिल गया है। मुस्लिम प्रभाव वाली भाषाओं की क, ख, ग, ज, फ आदि ध्वनियाँ आ गई हैं,तो अंग्रेजी की आँ ध्वनि को भी स्थान मिल गया है।

शब्दों के अन्त का ''अ'' स्वर प्रायः लुप्त हो जाने से उनकी स्थिति व्यंजनांत हो जाती है, यथा-आज-आज, नाम-नाम, तन-तन् आदि।

शब्दों के मध्य का ''अ'' स्वर भी लुप्त होने लग गया है, यथा- किसका-किस्का, उसका-उस्का, उतना-उत्ना आदि।

संयुक्त व्यंजनों में क्षतिपूरक दीर्घाकरण नियम के अनुसार एक व्यंजन का लोप होता है और पूर्वह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण हो जाता है, यथा- कर्म-कम्म-काम, सप्त-सत्त-सात आदि। सिन्धी तथा पंजाबी भाषाएं इस संदर्भ के लिए अपवादस्वरूप हैं। इसमें प्राकृत भाषा की ध्वनियों काअपरिवर्तित रूप आज भी प्रयुक्त होता है, यथा- कर्म-कम्म, अष्ट-अष्ट आदि।

शब्द सम्बन्धी विशेषताएँ

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में शब्द वर्ग मुख्यतः तत्सम, तद्भव तथा देशज थे, किन्तु आधुनिकभारतीय आर्य भाषाओं में विदेशी शब्द-वर्ग विशेष रूप से उभर कर सामने आया है। इस वर्ग मेंअरबी, फारसी, तुर्की तथा अंग्रेजी के शब्द मुख्य हैं। इन सभी भाषाओं के शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं, यथा- तत्सम शब्द-अगर, इमाम, डॉक्टर, टाइम, टी.वी. आदि। तद्भव शब्द-कर्ज, जादा, रेल, लालटेन, कप्तान आदि।

आधुनिक युग में मध्ययुग की अपेक्षा तत्सम शब्दों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। मध्ययुग में तद्भवशब्दों की संख्या आज की अपेक्षा कहीं अधिक थी।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक युग में अनुकरणात्मक शब्दों के ध्वन्यात्मक तथा प्रति-ध्वन्यात्मक आदि वर्गों के शब्दों का प्रयोग पहले की अपेक्षा कहीं अधिक होने लगा है। आजकल इस वर्ग के शब्दों के बहुल प्रयोग होने के कारण एक-एक शब्द के लिए दो या दो से अधिक प्रतिध्वन्यात्मक शब्दों का प्रचलन हो गया है, यथा-चाय-शाय/वाय/चूय आदि।

इस वर्ग की भाषाओं में परिभाषिक शब्द पर्याप्त संख्या में प्रयुक्त हुए हैं- यथा- अनहद, हठयोग, तदर्थ आदि।

आधुनिक युग में एक साथ अनेक भाषाओं का प्रयोग होने लगा है इसलिए इसमें संकर शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्रमिल जाते हैं, यथा- रेलगाड़ी, बेकाम, कर्जदार आदि।

व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों में भी पर्याप्त भिन्नता आ गई है। इस संदर्भ की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) तथा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाएं नाम तथा धातु दोनों ही दृष्टियों से संयोगात्मक थीं, जबकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं वियोगात्मक हो गई हैं। पूर्व कीभाषाओं की संयोगावस्था तथा वर्तमान की वियोगात्मक की परसर्गों के नामरूपों के साथ प्रयोग तथा सहायक क्रियाओं के धातु रूपों के साथ प्रयोग में देख सकते हैं, यथा- प्राचीन भा. आ. भाषा (संस्कृत) आधुनिक भा. आ. भा. (हिन्दी) रामः रावणा अलम् राम रावण के लिए पर्याप्त है। रमेशः विद्यालयं गच्छति रमेश विद्यालय जाता है। त्व. आगच्छ। तुम आ जाओ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग तथा नपुंसक तीनों लिंगों का प्रयोग होता था। अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग का ही प्रयोग मिलता है। तीन लिंगों का प्रयोग अब मात्रगुजराती तथा मराठी में मिलता है। लिंग-प्रयोग के संदर्भ में बंगला, उड़िया,असमी, बिहारी में सिमटती हुई लिंग-भेद स्थिति रेखांकन योग्य है।

संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता था, जो आज भी संस्कृत में प्रयुक्त होता है। भाषा-विकास में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग

समाप्त हो गया है। अब दो वचनों-एक वचन और बहुवचन के ही रूप रह गए हैं, यथा- बालक-लड़का, बालकौ, बालका:- लड़के। वर्तमान समय की कुछ भाषाओं में एकवचन तथा बहुवचन शब्दों के लिए एक ही रूप का प्रयोगशुरू हो गया है। हिन्दी की कुछ बोलियों में ''मैं'' के लिए भी ''हम'' शब्द एकवचन तथा बहुवचनदोनों रूपों में प्रयुक्त होता है। बहुवचन को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी ''हम'' के साथ ''लोग''या ''सब'' शब्द का प्रयोग कर ''हम लोग'' या ''हम सब'' बना लिया जाता है।

संस्कृत में कारकों के तीनों वचनों में भिन्नता होने के कारण 24 रूप बनते हैं। यथा- ''राम' 'शब्द प्रथमा-राम: रामौ रामा सप्तमी-रामे रामया रामेषु आदि। आधुनिक भाषाओं में इसका सीमितप्रयोग भाषा की सरलता का आधार बन गया है। संस्कृत में क्रिया सम्बन्धी काल तथा लकारों में भी बहुत विविधता रहती थी, जबकि आधुनिक भाषाओं में यह भिन्नता अपेक्षाकृत कहीं कम सरल हो गई है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से हुआ है। इस संदर्भ में अपभ्रंश के सात रूप उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश आधुनिक भा. आ. भाषाएं

शौरसेनी - पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी
महाराष्टी - मराठी
मागधी - बिहारी, बंगला, उड़ीया, असमी
अर्ध मागधी - पूर्वी हिन्दी
पैशाची - लहंदा, पंजाबी
ब्राचड़ - सिन्धी
खस - पहाड़ी
पश्चिमी हिन्दी

इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसमें बाँगरू (हरियाणवी) खड़ी-बोली, ब्रजभाषा,क़न्नौजी तथा बुन्देली पांच मुख्य बोलियां मिलती हैं।

बांगरू-बांगरू नाम एक क्षेत्रा विशेष, जो ऊंची भूमि से सम्बन्धित हो उसे ''बांगर'' कहते हैं, के आधार पर हुआ है। इसे जाँट, देसाड़ी और हरियाणवी नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। आज कल इसे प्राय: हरियाणवी ही कहते हैं।

हरियाणा में इसी बोली का प्रयोग होता है। हरियाणा का उद्‌भव भी हिन्दी की इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। हरियाणा का सीमा-निर्धारण भी इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। इस बोली के उद्‌भव के विषय में माना जाता है कि खड़ी-बोली पर पंजाबी तथा राजस्थान के प्रभाव के आधार पर यह रूप सामने आया है। इस बोली के लोक-साहित्य का समृद्ध भण्डार है। इस बोली की लिपि देवनागरी है। बाँगरू को मुख्य उप वर्गों में विभक्त कर सकते हैं-

बाँगरू—यह केन्द्रीय बोली है। इसका केन्द्र रोहतक है। इस बोली का प्रयोग दिल्ली के निकट तक होता है। इसमें क्रिया ''है'' का ''सै'' के रूप में प्रयोग होता है। णकार बहुला बोली होने के कारण ''न'' ध्वनि प्राय: ''ण'' के रूप में प्रयुक्त होती है। श, "ज्ञ, स का स्थान ''स'' ध्वनिने ले लिया है।

मेवाती—मेव-क्षेत्र विशेष के आधार पर इसका नाम मेवाती पड़ा है। इसका केन्द्र रेवाड़ी है।इस बोली का प्रयोग झज्जर, गुड़गांव, बाबल तथा नूह के कुछ अंश में होता है। इसे ब्रज,राजस्थानी और बांगरू का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें ''ण'' और ''ल'' का बहुत प्रयोग मिलता है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए ''ए'' के स्थान ''आँ'' का प्रयोग करते हैं, यथा-छोहरा-छोहरा।

ब्रज—ब्रज क्षेत्र इसके नामकरण का आधार है। पलवल इसका केन्द्र है। इस बोली में ड और ल ध्वनि प्राय: ''र'' हो जाती है- ल-र ण् काला-कारा ड-र ण् कीड़ी-कीरी यह बोली ओकारान्त बहुला है- खाया झ खायो गया-गयो

अहीरवाटी—रेवाड़ी और महेन्द्रगढ़ का मध्य क्षेत्र इसका केन्द्र स्थल है। नारनौल से कोसाली तक और दिल्ली से आस-पास तक इस बोली का प्रयोग होता है। इसे मेवाती, राजस्थानी बाँगरू और बागड़ी का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें अकारात संज्ञा प्राय: ओकारान्त के रूप मेंमिलती है, यथा-था-था।

बागड़ी—बागड़ी संस्कृति से जुड़ी इस बोली का क्षेत्र भिवानी, हिसार, सिरसा के अतिरिक्त महेन्द्रगढ़ के कुछ भाग तक फैला है। इसकी लोप-प्रक्रिया बाँगरू के समान है, यथा अहीर झहीर, उठाना-ठाना, अनाज-नाज बहुवचन बनाने के लिए ''आं'' प्रत्यय का प्रयोग होता है,जैसे-बात झ बातौं।

कौरवी—उत्तर प्रदेश के मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के अतिरिक्त हरियाणा के सोनीपत,पानीपत और करनाल तक इसका क्षेत्र फैला है। इसमें खड़ी-बोली की प्रवृत्ति मिलती है, यथा-है, ना (पाना, खाना)। व्यंजनों में द्वित्वीकरण प्रवृत्ति है, यथा-लोप-प्रक्रिया रोचक है-अनार-नार, उतार-तार।

अम्बावली–इसका प्रयोग क्षेत्र अम्बाला, यमुनानगर तथा कुरूक्षेत्र तक विस्तृत है। अम्बावली और कौरवी में बहुत कुछ साम्य है। वैसे इस पर पंजाबी, पहाड़ी तथा बाँगरू इसमें महाप्राण ध्वनिबलाघात से अल्पप्राण हो जाती है, यथा- हाथ-हात, साथ-सात आदि लोप प्रक्रिया के समान है।

खड़ी-बोली–इस बोली का प्रयोग दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के कुछ जिलों में होता है। इसके दो रूप हैं-एक साहित्यिक हिन्दी, दूसरा उसी क्षेत्र की लोक-बोली। ''खड़ी-बोली'' के नाम के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसके खड़ेपन (खरेपन) अर्थात् शुद्धताके कारण इसे ''खड़ी-बोली'' कहते हैं, तो कुछ विद्वानों का कहना है कि खड़ी पाई (आ की मात्रा'ा') के बहुल प्रयोग (आना, जाना, खाना आदि) के कारण इसे खड़ी-बोली की संज्ञा दी जाती है। इसका क्षेत्र दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, बिजनौर, मुरादाबाद तथा रामपुर के अतिरिक्त इनके समीपस्थ जनपदों के आंशिक भागों तक फैला हुआ है। खड़ी-बोली में साहित्य की दो शैलियाँ हैं- पहली उर्दू प्रभावित, दूसरी तत्सम शब्दावली बहुला परिनिष्ठित शैली। भारत की राजभाषा, राष्ट्र-भाषा में भी इसी रूप को अपनाया गया है। वर्तमान समय में हिन्दी की साहित्यिक रचना मुख्यतः इसी में हो रही है।

ब्रज-भाषा–ब्रज क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली बोली को ब्रज-भाषा कहते हैं। ब्रज-भाषा मथुरा,आगरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी आदि जनपदों में बोली जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा को साहित्य रचना का मुख्य आधार बनाया गया इसमें रचना करने वाले मुख्य साहित्यकार हैं-सूरदास,नन्ददास, बिहारी, केशव तथा घनानन्द आदि। यह भाषा माधुर्य गुण सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध है।

कन्नौजी–यह कन्नौज के विशेष क्षेत्र की बोली है, जिसका प्रयोग इटावा, फरुखाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई तथा कानपुर आदि जनपदों में होता है। कन्नौजी में लोक-साहित्य मिलता है, किन्तु साहित्यिक रचना का अभाव है।

बुन्देली–बुन्देलखण्ड में बोली जाने के कारण इसे बुन्देली कहते हैं। इसका क्षेत्र झांसी, छतरपुर,ग्वालियर, जालौन, भोपाल, सागर आदि जनपदों तक फैला हुआ है। इसमें साहित्यिक रचना का अभाव है, किन्तु समृद्धशाली लोक साहित्य है।

गुजराती–गुजराती का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। यह गुजरात की प्रान्त भाषा है। इस क्षेत्र में विदेशियों का आगमन विशेष रूप से होता है इसलिए इस पर विदेशी भाषा का प्रभाव पड़ा है। प्राकृत भाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द का जन्म बारहवीं शताब्दी में गुजरात में हुआ था। गुजराती के आदिकवि नरसिंह मेहता का आज भी सम्माननीय स्थान है। गुजराती में पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसकी लिपि पहले देवनागरी थी, अब देवनागरी से विकसित लिपि गुजराती है।

राजस्थानी

यह राजस्थान क्षेत्र या प्रदेश की भाषा है। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके अंतर्गत चार प्रमुख बोलियाँ आती हैं- मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी और मालवी।

मेवाती–मेव जाति के क्षेत्र मेवाती के नाम पर यह बोली मेवाती कहलाई है। यह अलवर के अतिरिक्त हरियाणा के गुड़गाँव जनपद के कुछ अंश में बोली जाती है। ब्रज-क्षेत्र से लगे होने के कारण इसपर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

जयपुरी–यह राजस्थान के पूर्वी भाग जयपुर, कोटा तथा बूंदी आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। इसक्षेत्र को ढँढाण कहने के आधार पर इसे ढुँढणी की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें लोक-साहित्य मिलता है। इसमें दादू पंथियों का पर्याप्त साहित्य मिलता है।

मारवाड़ी–यह पश्चिमी राजस्थान के जोधपुर, अजमेर, जैसलमेर तथा बीकानेर आदि जनपदों में बोली जाती है। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं। इसमें साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही रचा गया है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं-नरपति नाल्ह और पृथ्वीराज। मध्यकाल में मीराबाई ने इसी भाषा में रचना की थी।

मालवी–राजस्थान के दक्षिण पूर्व में स्थित मालवा क्षेत्र के नाम पर इसे मालवी कहते हैं। इन्दौर,उज्जैन तथा रतलाम आदि जनपद इसके क्षेत्र में आते हैं। इसमें सीमित साहित्य तथा पर्याप्त लोक-साहित्य मिलता है। चन्द्र-सखी इसकी प्रसिद्ध कवयित्री है।

मराठी

इसका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुआ है। महाराष्ट्र क्षेत्र या प्रदेश के नाम पर ही महाराष्ट्री नाम पड़ा है विस्तृत क्षेत्र में बोलै जाने के कारण चार विभिन्न क्षेत्रों में इसके चार रूप उभर आए हैं मराठी का अपना समृद्ध साहित्य है। नामदेव, ज्ञानेश्वर, रामदास तथा तुकाराम आदि इसके प्रमुख कवि हैं। इसमें पर्याप्त सन्त साहित्य है। इसकी लिपि देवनागरी है।

बिहारी

इसका विकास मागधी से हुआ है। बिहारी क्षेत्र या प्रदेश में विकसित होने के कारण इसका नाम बिहारी रखा गया है। यह हिन्दी भाषा का ही रूप है। इसके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही तीनप्रमुख बोलियाँ आती हैं।

भोजपुरी–जनपदीय क्षेत्र भोजपुर इसका मुख्य केन्द्र होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यह बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के सीमावर्ती जिलों भोजपुर, राँची, सारण, चम्पारण, मिर्जापुर, जौनपुर, बलिया,गोरखपुर, बस्ती आदि में बोली जाती हैं। इसमें सीमित साहित्य, किन्तु समृद्ध लोकसाहित्य मिलता है।

मैथिली–जनपदीय क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मैथिली नाम दिया गया है। इसके क्षेत्र में दरभंगा, सहरसा और मुजफ्फरपुर तथा मधुबनी जनपद आते हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसे सम्पन्न भाषा मान सकते है। इस भाषा का लोक-साहित्य भी अपने सरस रूप के लिए प्रसिद्ध है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने इसी भाषा में अपनी अधिकांश कृतियों का सृजन किया है।

मगही– ''मागधी'' से विकसित होकर मगही शब्द बना है। ''मगध'' क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मागधी या मगाही नाम दिया गया है। गया जनपद के अतिरिक्त पटना, भागलपुर, हजारीबाग तथा मुंगेर आदि जनपदांशों में भी यही बोली जाती है।

बंगला

इसका विकास मागधी अपभ्रंश से हुआ है। बंगाल इसका क्षेत्र हैं गाँव तथा नगर की बंगला में भिन्नता है। इसी प्रकार पूंर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्र की बंगला में भी भिन्नता है। पूर्वी बंगला का मुख्य केन्द्र ढाका है, जो अब बंगलादेश में है। हुगली नदी के निकट क्षेत्र की नगरीय बंगला ही साहित्यक भाषा बन गई

है। परम्परागत तत्सम शब्दों की संख्या सर्वाधिक रूप में बंगला में ही मिलती है।

इसकी अनेक विशेषताओं में ''अ'' तथा ''स'' का ''श'' उच्चारण प्रसिद्ध है। बंगला साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न भाषा है। रविन्द्रनाथ ठाकुर, शरतचन्द्र, बंकिमचन्द्र, चण्डीदास तथा विजयगुप्त आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार हैं। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री ''बंगाला'' का उद्‌भव एवं विकास के लेखक डॉ0 सुनीतिकुमार चटर्जी का नाम भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसकी लिपि बंगला है, जो पुरानी नागरी से विकसित हुई है। देवनागरी और बंगला लिपि में पर्याप्त साम्य है।

उड़िया

उड़िया का विकास मागधी अप्रभ्रंश से हुआ है। उड़ीसा प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे उड़िया कहा जाता है। उडीसा को ''उत्कल' नाम से संबोधित किया जाता था, इसलिए इसे ''उत्कली'' भी कहते हैं। उड़िया का शुद्ध रूप ओड़िया है इसलिए इसे ''ओड़ी'' भी कहते है। बंगला तथा उड़िया भाषा में पर्याप्त समानता है। इस भाषा पर मराठी तथा तेलुगू का काफी प्रभाव है, क्योंकि यह क्षेत्र एक लम्बे समय तक ऐसे भाषा-भाषी राजाओं के शासन में रहा है। इसमें परम्परागत तत्सम शब्द पर्याप्त रूप से कृष्ण भक्तिपरक रचनाएँ मिलती हैं। इसकी लिपि उड़िया है, पुरानी नागरी से विकसित हुई है।

असमी

मागधी अपभ्रंश से विकसित भाषाओं में असमी एक भाषा है। असमी, आसामी, असमीया, असामी आदि नामों से जानी जाने वाली यह भाषा आसाम या असम प्रान्त की भाषा है। इसमें तथा बंगला में बहुत कुछ साम्य है। यह साहित्य सम्पन्न भाषा है। इसके प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। इसके प्रसिद्ध साहित्यकार हैं-शंकरदेव, महादेव तथा सरस्वती आदि। इसकी लिपि बंगला है, किन्तु इसमें कुछ एक ध्वनि चिह्न सुधार लिए गए हैं।

पूर्वी-हिन्दी

पूर्वी हिन्दी का विकास अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र के पूर्व में होने से इसी पूर्वी हिन्दी का नाम दिया गया है। इसकी कुछ

विशेषताएं पश्चिमी हिन्दी से मिलती है, तो कुछ बिहारी वर्ग की भाषाओं से। इसे तीन बोलियों-अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ में विभक्त करते हैं।

अवधी—यह पूर्वी हिन्दी की प्रमुख बोली है। अवध (अयोध्या) क्षेत्र की भाषा होने के कारण इसे अवधी कहते हैं। प्राचीन काल में अवध को ''कोशल'' भी कहा जाता था, इसलिए इसे कोसली भी कहते हैं। विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण इसे तीन उपवर्गों में विभक्त करते हैं। इसके क्षेत्र इस प्रकार हैं-

पूर्वी अवधी—फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, मिर्जापुर गोंडा।

केन्द्रीय अवधी—रायबरेली, बाराबंकी।

पश्चिमी अवधी—लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फतेहपुर, खीरी लखीमपुर। अवधी में साहित्य तथा लोक-साहित्य की परम समृद्ध परम्परा है। ठेठ तथा साहित्यिक अवधी में उन्नत साहित्य की रचना हुई है। मुल्लादाउद, कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास आदि अवधी के प्रमुखकवि हैं।

बघेली—बघेल खण्ड में बोली जाने के कारण इसे बघेली नाम दिया गया है। इसे बघेलखण्डी भी कहते हैं। इसका केन्द्र रीवा है। रीवा के आस-पास शहडोल, सतना आदि में भी इसका प्रयोग होता है। इसमें लोक-साहित्य मिलता है।

छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढ़ के नाम पर इसे छत्तीसगढ़ी कहते हैं। रायपुर, विलासपुर, खैरागढ़ तथा कांके आदि तक इसका क्षेत्र माना गया है। इसमें पर्याप्त लोक-साहित्य मिलता है।

लहँदा

इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। लहँदा का अर्थ है-पश्चिमी। अब वह पश्चिमी पंजाब जो पाकिस्तान है, की भाषा है। यह पश्चिमी, पंजाबी, जटकी तथा 'हिन्द की' के नाम से भी जानी जाती है। इस पर पंजाबी तथा सिन्धी भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसकी कई बोलियां विकसित हो गई हैं। इसकी लिपि लंडा है, किन्तु आजकल इसे गुरुमुखी या फारसी में लिखते हैं। इसमें उन्नत या विकसित साहित्य का अभाव है।

पंजाबी

पैशाची अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। पंजाब क्षेत्र की भाषा के कारण इसका नाम पंजाबी हुआ है। यह सिक्ख-साहित्य

की मुख्य भाषा है। इस पर दरद का प्रभावहै। इस भाषा का केन्द्र अमृतसर है। पंजाबी भाषा की विभिन्न बोलियों में अधिक अन्तर नहीं है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य है। वर्तमान समय में इससे सम्बन्धित साहित्यकार साहित्यिक रचना में गतिशील हैं। उसकी लिपि गुरुमुखी है।

सिन्धी

इसका विकास ब्राचड़ या ब्राचट अपभ्रंश से हुआ है। सिन्ध क्षेत्र की भाषा होने के कारण इसे सिन्धी कहा गया है। सिन्ध क्षेत्र में सिन्धु नदी के तटीय भागों में यह भाषा बोली जाती है। इसकी कई बोलियाँ हैं, जिनमें बिचौली मुख्य है। इसका साहित्य अत्यन्त सीमित है। सिन्धी भाषा की लिपि लंडा है, किन्तु आजकल इसके लेखन में फारसी लिपि का भी प्रयोग किया जाता है।

पहाड़ी

इसका विकास 'खस' अपभ्रंश से हुआ है। इसका क्षेत्र हिमालय के निकटवर्ती भाग नेपाल से लेकर शिमला तक फैला है। कई बोलियों वाली इस भाषा को तीन उपवर्गों में विभक्त करते हैं –

पश्चिमी पहाड़ी–इसमें शिमला के आस-पास चम्बाली, कुल्लई आदि बोलियाँ आती हैं।

मध्य पहाड़ी–इसमें कुमायूं तथा गढ़वाल का भाग आता है। नैनीताल तथा अल्मोड़ा में बोली जानेवाली कुमायूनी तथा गढ़वाल, मंसूरी में बोली जाने वाली गढ़वाली बोलियाँ मुख्य हैं।

पूर्वी पहाड़ी–काठमाण्डू तथा नेपाल की घाटी में यह भाषा बोली जाती है। पहाड़ी बोलियों का समृद्ध लोक-साहित्य है। इसकी लिपि मुख्यत: देवनागरी है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण–

विश्व के समस्त भाषा-कुलों में भारतीय भाषा कुल का और इसमें भारतीय आर्य भाषाओं का विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं का उद्‌भव और उससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। वर्तमान समय की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पर्याप्त विकास हुआ है। इसकी विभिन्न शाखाओं में भरपूर साहित्य रचना हो

रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस परिवार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। वर्गीकरण प्रस्तुत करने वाले मुख्य भाषा-वैज्ञानिक हैं-हार्नलें, बेबर, ग्रियर्सन,डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, श्री सीताराम चतुर्वेदी, डॉ. भोलानाथ तिवारी आदि।

हार्नले द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के संबंध में प्रथम नाम हार्नले का आता है। उन्होंने आर्य के विषय में एक सैद्धान्तिक तथ्य सामने रखा है कि आर्य बाहर से भारत में दो बार आए हैं। इनके भारत प्रथम आगमन का मार्ग सिन्धु पार कर पंजाब से रहा है। दूसरी बार इनका आगमन कश्मीर की ओर से हुआ है। दूसरी बार आर्यों के आगमन पर पूर्वकाल में आए आर्य देश के कोने-कोने में फैल गए। दूसरी बार आए आर्य देश के मध्यभाग में बस गए। इस प्रकार हार्नले ने आर्यों के बहिरंग तथा अंतरंग वर्गों के आधार पर ही उनकी भाषाओं को भी वर्गीकृत किया है। इस आधार पर हार्नले ने अंतरंग और बहिरंग दो वर्ग बनाए।

हार्नले ने "Comparative Grammer of the Gaudian Languages" में एक भिन्न वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने विभिन्न दिशाओं के आधार पर भाषा-सीमा बनाने का प्रयत्न किया है।ये भाषा वर्ग हैं-

पूर्वी गौडियन–पूर्वी हिन्दी (बिहारी सहित), बंगला, उड़ीसा, असमी।

पश्चिमी गौडियन–पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी सहित), गुजराती, सिन्धी, पंजाबी।

उत्तरी गौडियन–पहाड़ी (गढ़वाली, नेपाली आदि)

दक्षिणी गौडियन–मराठी।

इस प्रकार हार्नले द्वारा प्रस्तुत किया गया आधुनिक भारतीय भाषाओं का आदि वर्गीकरण भले ही विस्तृत और पूर्ण वैज्ञानिक नहीं सिद्ध हो सका है, किन्तु इसका अपना विशेष महत्त्व है, इस वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि परवर्ती वर्गीकरण अल्पाधिक रूप में इस पर आधारित है।

ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का समुचित सर्वेक्षण करके उनकी विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है।उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए दो वर्गीकरण इस प्रकार हैं-

प्रथम वर्गीकरण

ग्रियर्सन ने हार्नल के बाह्य और आन्तरिक सिद्धान्त-वर्गीकरण को आंशिक आधार बनाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण किया है। उन्होंने इस वर्गीकरण में समस्त भाषाओं को मुख्यत:तीन वर्गों में विभक्त किया है।

1. बाहरी उपशाखा

   पश्चिमोत्तर वर्ग–लहँदा, सिन्धी।

   दक्षिणी वर्ग–मराठी।

   पूर्वी वर्ग–उड़िया, बंगला, असमी, बिहारी।

2. मध्यवर्ती उपशाखा मध्यवर्ती वर्ग

   पूर्वी हिन्दी।

3. भीतरी उपशाखा

   केन्द्रीय वर्ग–पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी (भीली, खानदेशी)

   पहाड़ीवर्ग–नेपाली (पूर्वी पहाड़ी), मध्य पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

ग्रियर्सन के मतानुसार विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त भाषाओं की ध्वनियों, शब्दों तथा उनके व्याकरणिक रूपों में पर्याप्त भिन्नता है। उन्हीं आधारों पर उन्होंने विभिन्न भाषाओं को उपशाखाओं में विभक्त किया है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इस वर्गीकरण की विभिन्न दृष्टियों से आलोचना की है। इस वर्गीकरण के आधार और विशेषताओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से इस प्रकार विचार कर सकते हैं।

(क) ध्वन्यात्मक विशेषताएँ - ग्रियर्सन ने बाहरी उपशाखा की कुछ ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ रेखांकित की हैं,जो भीतरी उपशाखा में नहीं हैं, यथा-

उनके अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में इ, उ तथा ए स्वरांत शब्दों की उक्त ध्वनियों का लोप नहीं होता है। यदि भीतरी उपशाखा की भाषाओं की ऐसी शब्दान्त ध्वनियों के विषय में देखें तो पाएँगे कि उनका लोप वहाँ भी नहीं होता यथा-पति, पशु, मिले आदि।

इस शाखा में इ ध्वनि ए और उ ध्वनिओं में परिवर्तित हो जाती है। ऐसा ध्वनि-परिवर्तन बाहरी शाखा की भाषाओं में ही नहीं, भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलता है, यथा-इ-ए–मिलना-मेल,तिल-तेल, उ-ओ–सुखाना-सोखना, मुग्ध-मोह, तुही-तोही।

उक्त शाखाओं की भाषाओं की ''इ'' तथा ''उ'' ध्वनि आपस में एक-दूसरे के प्रयोग स्थान पर प्रयुक्त होती है। भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदा-कदा ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं, यथा-इ-उ-बिन्दु, बुन्द।

ग्रियर्सन के अनुसार ''ड'' और ''ल'' के स्थान पर ''र'' का प्रयोग होता है। ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदाकदा मिल जाती है, यथा- ड-र-किवाड़-किवार, पड़गए-पर गए, सड़क-सरक ल-र-बल-बर, बिजली-बिजुरी, तल-तरे यह प्रवृत्ति अवधी तथा ब्रज में पर्याप्त रूप से मिलने के साथ खड़ी-बोली में भी अल्पाधिक रूप में मिल जाती है।

उनकी मान्यता है कि बाहरी शाखा की भाषाओं में द तथा ड ध्वनियाँ आपस में एक-दूसरे के स्थानपर प्रयुक्त होती है। ऐसी प्रवृत्ति तो भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है, यथा- द-ड-दशन-डसना, दंड-डंड, ड्योढ़ी-देहली

बाहरी शाखा की भाषाओं में 'म्ब' से ''म'' ध्वनि का विकास माना गया है, साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि भीतरी शाखा में ''म्ब'' का ''ब'' रूप होता है। दोनों उपशाखाओं के शब्दों की ध्वनियों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि इसके विपरीत प्रवृत्ति भी मिलती है। पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी में निम्ब से नीम, निबोली, जम्बुक से जामुन शब्द रूप हो जाते हैं, तो बंगला में निम्बुक से लेबू रूप हो जाता है।

उनके अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं में ''स'' ध्वनि श, ख, या ह के रूप में मिलती है। यदि बाहरी शाखा की पूर्वी वर्ग की बंगला तथा दक्षिणी वर्ग की मराठी भाषाओं में देखें तो यह ध्वनि ''श'' के रूप में प्रयुक्त होती है। बंगला की पूर्वी बोली तथा असमी में यह निर्बल ध्वनि ''ख'' के रूप में प्रयुक्त होतीहै। पश्चिमोत्तर वर्ग लहँदा तथा सिन्धी में यही ध्वनि ''ह'' के रूप में मिलती है। ग्रियर्सन द्वारा संकेत की गई उपशाखा की यह प्रवृत्ति भीतरी उपशाखा में भी मिलती है, यथा-द्वादश-बारह, केसरी-केहरी, पंच-सप्तति-पचहतर, कोस-कोह।

ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं की महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं। यदि भीतरी शाखाओं की भाषाओं के विषय में चिन्तन करें तो यह परिवर्तन इसमें भी मिलता है, यथा-भंगिनी-बहन या बहिन, ईठा प्राकृत) (इष्टक)-ईंट।

उनके अनुसार संयुक्त व्यंजन के मध्य स्थिति अर्ध-व्यंजन का लोप हो जाता है। क्षतिपूरक दीर्घी करण नियमानुसार पूर्व वर्ण का रूप दीर्घ हो जाता है।

भीतरी शाखा की भाषाओं में भी ऐसे ध्वनि-परिवर्तन मिल जाते हैं, यथा- कर्म-काम, सप्त-सात, हस्त-हाथ, चर्म-चाम आदि।

इसमें अंतरस्थ ''र'' का लोप हो जाता है। यह प्रवृत्ति भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है,यथा- ओर-औ, पर-पै।

इसमें ही ''ए'' का ''ऐ'' और ''ओ'' का ''औ'' होने की बाबत कही गई है, भीतरी शाखा की भाषाओं के उच्चारण में यदा-कदा ऐसे परिवर्तन मिल जाते है, यथा- सेमैस्टर-सैमेस्टर।

बाहरी शाखा की भाषाओं में ''द'' और ''ध'' के ''ज'' और ''झ'' होने की बात कही गई है। ये परिवर्तन भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिल जाते हैं।

(ख) व्याकरणिक विशेषताएँ

ग्रियर्सन ने ''ई'' प्रत्यय के प्रयोग के आधार पर बाहरी शाखा की भाषाओं को अलग किया है, किन्तु भीतरी शाखा की भाषाओं में ऐसी प्रवृति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में मिलती है, यथा- संज्ञा–लड़का-लड़की, मामा-मामी, दादा-दादी। विशेषण–अच्छा-अच्छी, गन्दा-गन्दी, पीला-पीली। क्रिया–जाता-जाती, रोता-रोती, गाता है- गाती है।

उन्होंने बाहरी शाखा की भाषाओं के विशेषण शब्दों में ''ला'' के प्रयोग की बात कही है, जो भीतरी भाषाओं में मिलती है, यथा- पुल्लिगं विशेषण-गठीला, रंगीला, खचौला, कटीला। स्त्रीलिगं विशेषण-गठीला, रंगीली, खचौली, कटीली।

ग्रियर्सन के अनुसार संस्कृत संयोगात्मक भाषा थी। उसके पश्चात की भाषाएँ क्रमशः वियोगात्मक होती गई है। बाहरी शाखा की भाषाओं में आगे के विकास की बात कही गई अर्थात् उसमें पुनः संयोगात्मकरूप विकासित हो गए है। ''राम की किताब'' का बंगला रूपान्तरण ''रामेर बाई होता है। इसके विपरीत भीतरी शाखा को भाषाओं के कारण रूपों के संयोगात्मक प्रयोग देख सकते है, यथा- अपने काम से मतलब है। तुमसे भी कहूँ उनकी बात है।

क्रिया शब्दों तथा धातु रूपों में समानता की बात कही गई है। यह तथ्य न तो बाहरी शाखा की भाषाओं में पूर्णतः मिलता है और न ही भीतरी शाखा की भाषाओं में दोनों ही शाखाओं की भाषाओं में मिलने वाली ऐसी प्रवृति को भेदक आधार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भूतकालिक क्रिया का रूप कर्त्ता के अनुरूप प्रयुक्त होता है। यह प्रवृत्ति बाहरी शाखा की भाषाओंके अतिरिक्त पूर्वी हिन्दी में भी मिलती है– यथा – हम इमलि खायेन – (मैंने इमली खाई) हम आम खायेन – (मैंने आम खाया) बाहरी शाखा की भाषाओं में यह प्रवृत्ति केवल अकर्मक क्रिया के सन्दर्भ में ही मिलती है। ग्रियर्सन के अनुसार भूतकालिक क्रिया के साथ आने वाला सर्वनाम क्रिया के साथ अन्तर्भूत होता है।बाहरी शाखा की सभी भाषाओं में यह प्रक्रिया नहीं मिलती है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट भेदक आधार नहीं है।

बाहरी शाखा की भाषाओं के सभी वर्गो के शब्दों को सप्रत्यय माना है। यदि भीतरी शाखा की भाषाओं के शब्दों पर विचार करें तो ऐसी ही प्रकृति इसमें है, यथा – मै (मैंने), तै (तूने) बालहि(बालक को)।

(ग) शब्द विशेषताएँ–ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की सभी भाषाओं के शब्दों में पर्याप्त समानता है। यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से भीतरी तथा बाहरी शाखाओं की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन करें,तो पाएँगे कि बंगला–लहँदा या बंगला–मराठी की अपेक्षा कहीं अधिक समता बंगला तथा हिन्दी में मिलती है। बिहारी तो वास्तव में हिन्दी का एक रूप है इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी शाखाओं की भाषाओंके विभिन्न शब्द–वर्गो और उनकी रचना में पर्याप्त समानता होने से वर्गीकरण का यह आधार भी वैज्ञानिकनहीं सिद्ध होता है।

(घ) वशांनुगत विशेषताए–आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बाहरी तथा भीतरी उपशाखा आधारित वर्गीकरण को पुष्ट आधार देने के लिए परिवार को दो उपवर्गो में विभक्त किया गया है। इस मन्तव्य के अनुसारबाहरी क्षेत्र के आर्य एक जाति के थे और भीतरी आर्य दूसरी जाति के थे। इस प्रकार भिन्न जाति के होने के कारण उनकी भाषा भी भिन्न बताई गई है। इस विचार के अनुसार बंगला, सिन्ध तथा महाराष्ट्र क्षेत्र के आर्य उत्तर–प्रदेश, गुजरात तथा राजस्थान आदि क्षेत्रों के आर्य दूसरी जाति के थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मन्तव्य गलत सिद्ध होता है। इतिहास के अनुसार आर्य ही एक परिवार के थे।

द्वितीय वर्गीकरण

गिग्रसर्न ने बाद में हिन्दी को विशेष महत्त्व देते हुए एक नए ढंगं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं की समान विशेषताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

मध्य देशीय भाषाएँ - पश्चिमी हिन्दी अन्तर्गत भाषाएँ - पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी (पश्चिमी हिन्दी से अधिक समता रखने वालीभाषाएँ), पूर्वी हिन्दी (बाहरी भाषाओं से समता रखने वाली भाषाएँ)

बाहरी भाषाएँ - 1. पश्चिमोत्तरी भाषाएँ - लहँदा, सिन्धी 2. दक्षिणी भाषा -मराठी 3. पूर्वी भाषाएँ बिहारी, उड़िया, बंगला, असमी।

डॉ. ग्रियर्सन के द्वारा किए गए दोनों ही वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक कोटि में नहीं आते हैं, क्योंकि प्रथम वर्गीकरण की दोनों उपशाखाओं की ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक तथा शब्दगत विशेषताओं में स्पष्ट भेदक रेखा खींचना संभव नहीं है। आर्यों को बाहरी तथा भीतरी दो जातियों में विभक्त करना इतिहास के तथ्यों के विपरीत है। इनके द्वारा प्रस्तुत द्वितीय वर्गीकरण अधिक उपयोगी तथा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अब तक हुए वर्गीकरणों में ग्रियर्सन का वर्गीकरण निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। संहिता से उपनिषद् तक का विकास भाव-धारा की दृष्टि से ही नहीं भाषा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यह विकास शताब्दियों में ही सम्भव हुआ। भाषिक अध्ययन की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व अधिक है। इसका कारण यह है कि ये ग्रन्थ मुख्यत: गद्य में हैं। उनसे वाक्य-रचना की प्रणाली को जानने में सहायता मिलती है।

जिस भाषा में ऋग्वेद की रचना हुई है, वह बोलचाल की भाषा न होकर उस समय की मानक साहित्यक भाषा थी। उसके समानान्तर लोक-भाषाएँ भी रही होंगी किन्तु उनके लिखित साहित्य के अभाव के कारण उन्हें जानने का कोई साधन अब नहीं है। ऋग्वेद में वर्णित है कि जैसे-सूप से सत्तू को शुद्ध किया जाता है वैसे ही बुद्धिमान लोग बुद्धिबल से परिष्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं (10-71- 2)।

हमें प्राचीन एवं मध्यकाल के भारतीय आर्य-भाषाओं के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध हैं। विभिन्न क्षेत्रों एवं राज्यों में सामान्य जन के द्वारा बोले जाने वाले भाषिक रूप उपलब्ध नहीं हैं। किसी काल में सामान्यत: साहित्यिक भाषा का आधार उस काल की मानक/सम्पर्क भाषा होती है। भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास के परम्परागत अध्ययनों के बाद पाठक को यह प्रतीत होता है कि प्राचीन एवं मध्यकाल में तो भाषाओं की संख्या कम थी मगर आधुनिक काल में भाषाओं की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई। इस प्रकार

की धारणा अवैज्ञानिक तथा अतार्किक है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में सामाजिक सम्पर्क बहुत बढ़ा है तथा निरन्तर बढ़ रहा है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भाषा क्षेत्र में सामाजिक सम्पर्क जितना अधिक होता है, भाषा भेद उतना ही कम होता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने पर इतना तो पता चल ही जाता है कि वेदों की छान्दस् भाषा को उदीच्य प्रदेश के पुरोहित सबसे शुद्ध मानते थे तथा उस काल में मध्यदेशी एवं प्राच्य आदि जन भाषाएँ भी बोली जाती थीं। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ तहाँ बोली भेद हैं।

(मध्यदेश का भाषा विकास–नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 50, अंक 1–2, सम्वत् 2002 (सन् 1945)।

विद्वानों के एक वर्ग की मान्यता है कि वैदिक भाषा से लौकिक संस्कृत का विकास हुआ है। विद्वानों के दूसरे वर्ग का मत है कि संस्कृत का विकास वैदिक के बदले तद्युगीन किसी बोली से हुआ जो अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण बन गयी। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के भाषिक विकास के गहन अध्ययन से दूसरा मत अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। इसका तार्किक आधार यह भी है कि किसी लोक भाषा का संस्कारित रूप ही संस्कृत है। संस्कृत का अर्थ ही है – संस्कारित भाषा। इस वर्ग की मान्यता को समझने के लिए हम खड़ीबोली का उदाहरण ले सकते हैं। अपभ्रंश काल में शौरसेनी का सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहार होता था। 15 वीं शताब्दी से लेकर 18 वीं शताब्दी तक शौरसेनी की परम्परा का निर्वाह ब्रज ने अधिक किया। राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक आदि कारणों से दिल्ली के चतुर्दिक बोली जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी भाषा–क्षेत्र की अन्य उपभाषाओं, बोलियों की तुलना में आगे निकल गई और अन्य उपभाषाओं एवं पंजाबी आदि भाषाओं के भाषिक तत्त्वों के समाहार से स्वाधीनता आन्दोलन के समय सम्पूर्ण भारत की सर्वमान्य राष्ट्रभाषा बन गयी। राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा बनने का यह अर्थ नहीं कि उसके बाद हिन्दी भाषा क्षेत्र की अन्य उपभाषाओं/बोलियों का व्यवहार होना बन्द हो गया। संस्कृत भाषा भी समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/ जनभाषाओं की तुलना में आगे निकल गयी और भारत की सांस्कृतिक भाषा बन गयी। यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि इसका क्या प्रमाण है संस्कृत काल में अन्य जन भाषाएँ विद्यमान थीं। इसका कारण यह है कि वे भाषिक रूप उपलब्ध नहीं हैं। इस सम्बन्ध में

उल्लेखनीय है कि साहित्य में ही यत्र तत्र कुछ उल्लेख मिलते हैं, जो उस काल की भाषा-भिन्नताओं की सूचना देते हैं। अथर्ववेद के 12 वें कांड के पृथ्वी सूक्त में "जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं" का उल्लेख प्राप्त है जिससे सामान्य जनों द्वारा विविध भाषिक रूपों के अस्तित्त्व का संकेत प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा कांड में शुद्ध भाषा सीखने हेतु व्याकरण का अध्ययन करने तथा अपभाषित से बचने के निर्देश प्राप्त हैं। इसी रामायण के हनुमान जब राम का संदेश लेकर लंका में सीता के पास पहुँचते हैं तो उनके मन के द्वन्द को रचनाकार ने अभिव्यक्त किया है। द्वन्द का कारण है कि सीता को संदेश किस भाषा में दिया जाए - दैवी भाषा संस्कृत में अथवा मानुषी भाषा में। हनुमान अपने से प्रश्न करतें हैं कि "यदि मैं दैवी भाषा शुद्ध परिष्कृत संस्कृत में बात करूँ तो कहीं देवी सीता यह न समझ लें कि मैं रावण द्वारा वानर का भेष बनाकर आया हूँ"

यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।
(वाल्मीकि रामायण - 5/30/17-19)

कालिदास के कुमार सम्भव में वर्णित है कि शंकर एवं पार्वती के विवाह के अवसर पर सरस्वती शंकर से जिस भाषा में बात करती हैं उससे भिन्न भाषा में वे पार्वती से बात करती हैं। भरत मुनि ने नाना देशों के प्रसंग के अनुसार भाषिक प्रयोगों का विधान किया है।

(नाट्यशास्त्र, 18/17-19)।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संस्कृत भाषा काल में हमें विभिन्न समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/जनभाषाओं के रूप उपलब्ध नहीं हैं तथापि भाषा-व्यवहार की सर्वसामान्य मान्यता तथा तद्युगीन साहित्य के उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर यह माना जा सकता है कि संस्कृत भाषा काल में विभिन्न समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/जनभाषाओं का व्यवहार होता था।

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियों का सार निम्न है:

(1) वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।

(2) वैदिक भाषा में विसर्ग के दो उपस्वन भी मिलते हैं। द्वि-ओष्ठ्य संघर्षी (उपध्मानीय) एवं कंठ्य संघर्षी(जिह्ववामूलीय)। इनका पूरक वितरण है। उपध्मानीय द्वि-ओष्ठ्य उपस्वन स्पर्श व्यंजनों के पूर्व तथा जिह्ववामूलीय

कंठ्य स्पर्श उपस्वन व्यंजनों के पूर्व बोला जाता था। लौकिक संस्कृत में दोनों उपस्वनों का प्रयोग होना समाप्त हो गया तथा इनके स्थान पर विसर्ग का ही प्रयोग होने लगा।

(3) वैदिक संस्कृत के ऐ एवं औ का उच्चारण वृद्धि स्वर अर्थात क्रमशः आ+इ तथा आ+उ रूप में होता था। लौकिक संस्कृत में इनका उच्चारण अ+इ तथा अ+उ रूप में होने लगा।

(4) वैदिक संस्कृत में ऋ एवं ऌ का आक्षरिक उच्चारण होता था, अर्थात इनका स्वरवत् प्रकार्य था। लौकिक संस्कृत में इनका शुद्ध उच्चारण होना बंद हो गया, अर्थात इनकी अक्षर-शिखर की प्रकार्यता समाप्त हो गई।

(5) वैदिक संस्कृत में रूप-रचना में अधिक विविधता और जटिलता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विभक्ति के बहुवचन में देव शब्द के देवाः और देवासः दोनों रूप मिलते हैं। इसी तरह तृतीया के एकवचन मे देवैः और देवेभिः दोनों रूप मिलते हैं। संस्कृत में आकर रूप अधिक व्यवस्थित हो गए और अपवादों तथा भेदों की कमी हो गयी। उदाहरणार्थ, पूर्वोक्त दोनों वैकल्पिक रूप छँट गए और एक-एक रूप (देवाः तथा देवैः) रह गए।

(6) वैदिक संस्कृत में सम्भावनार्थक (हेतुहेतुमत) का भी प्रयोग होता था। लौकिक संस्कृत में इसका सामान्य रूप से प्रयोग होना समाप्त हो गया। केवल इच्छार्थक वृत्ति का प्रयोग शेष रह गया।

(7) वैदिक संस्कृत अनुतानात्मक है जिसके उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्तर हैं। लौकिक संस्कृत में अनुतान के स्थान पर बलाघात का प्रयोग होने लगा।

(8) दोनों कालों की भाषाओं में तीन लिंग और तीन वचन हैं।

(9) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग का प्रयोग मूल शब्द से हटकर अर्थात स्वतंत्र शब्द के रूप में भी मिलता है, किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग शब्द में जुड़कर अर्थात उपसर्ग के रूप में ही मिलता है।

अपभ्रंश

लेखक की मान्यता है कि संस्कृत से भेद दिखाने के लिए हम मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के काल को सामान्य नाम भी दे सकते हैं और इसे प्राकृत कह सकते हैं।

मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के प्रथम विकास काल का विवरण

(अ)प्रथम प्राकृत (500 ई. पूर्व से ई. सन् के आरम्भ तक)-

गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा पालि, जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषा एवं अशोक के अभिलेखों की भाषाएँ - कुछ विद्वान संस्कृत से पालि-प्राकृत की उत्पत्ति मानते हैं।

(प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् - सिद्धहेमशब्दानुशासन, 8/1/1)

यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रा.भा.आ.भा. काल में संस्कृत संस्कारित भाषा थी। समाज के शिक्षित वर्ग की भाषा थी। उसी के समानान्तर विविध जनभाषाओं/लोकभाषाओं की भी स्थिति थी। प्राकृत का अर्थ ही है - प्रकृत।

(प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्)। (- - - प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतं)। इनके परिप्रेक्ष्य में अधिक तर्कसंगत यह मानना है कि संस्कृत के समानान्तर जो जन-भाषाएँ थीं, उन्हीं के विकसित रूप प्राकृत हैं।

(क) गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा पालि-पालि भाषा की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। पालि शब्द का अर्थ क्या है और वह कहाँ की भाषा थी। इन दोनों प्रश्नों को लेकर भी विद्वानों में मतभेद हैं। पालि शब्द की निरुक्ति को लेकर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं।

(1)पंक्ति शब्द से निम्नलिखित विकास क्रम में पालि की निष्पत्ति बतायी जाती है-

पंक्ति झ पंति झ पत्ति झ पट्टि झ पल्लि झ पालि।

इस विकास क्रम में ध्वनि-नियम से अधिक अपनी बात प्रमाणित करने का आग्रह है। दंत्य से मूर्द्धन्य तथा फिर मूर्द्धन्य से पार्श्विक के विकास क्रम की प्रवृत्ति संगत नहीं है।

(2) पल्लि (गांव) से पालि को निष्पन्न बताया जाता है। पल्लि-भाषा अर्थात गांव की भाषा। इस व्युत्पत्ति में भी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि द्वित्व व्यंजन में एक व्यंजन -ल् का लोप और पूर्व स्वर का दीर्घत्व प्रथम प्राकृत काल की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है दूसरी यह कि सामान्यतः इस स्थिति में शब्द के दूसरे अक्षर के ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण होना चाहिए था। पालि में ह्रस्व स्वर ही है।

(3) प्राकृत-पाकट-पाअड़-पाअल-पाल-पालि

यह स्वन परिवर्तन भी विकास क्रम की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है।

(4) एक विद्वान ने पाटलिपुत्र शब्द से पालि को व्युत्पन्न करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि ग्रीक में पाटलिपुत्र को पालिबोथ्र कहते हैं। विदेशियों द्वारा किसी शब्द के उच्चारण को भारतीय भाषा का अभिधान मानना भी संगत नहीं है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

(5) एक विद्धान ने पालि का सम्बन्ध पर्याय शब्द से जोड़ा है–

पर्याय झ परियाय झ पलियाय झ पालि

प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग होता था। इसलिए पर्याय से पालि को निष्पन्न बताया गया है। एक मत यह भी है कि पाल् धातु से पालि शब्द बना है जिसका अर्थ पालन करना या रक्षा करना है। जिस भाषा के द्वारा बुद्ध के वचनों की रक्षा हुई, वह पालि है। वास्तव में पालि का सम्बन्ध बुद्ध वचनों/बौद्ध साहित्य से ही है, इस कारण अन्तिम दो मत अपेक्षाकृत अधिक संगत हैं।

पालि किस स्थान की भाषा थी - इस सम्बंध में भी मत भिन्नता है। श्रीलंका के बौद्ध भिक्षुओं ने इसे मगध क्षेत्र की भाषा माना है, किन्तु पालि का मागधी प्राकृत से भाषिक संरचनागत सम्बन्ध नहीं है। इस कारण यह मगध क्षेत्र की भाषा नहीं हो सकती। इसी संदर्भ में यह भी दोहराना उपयुक्त होगा कि पाटलिपुत्र शब्द के ग्रीक उच्चारण से पालि की व्युत्पत्ति के मत का भी हमने समर्थन नहीं किया है।

संस्कृत के अघोष संघर्षी व्यंजन (ऊष्म) स्, ष्, श् में से मागधी में श् का तथा अर्द्धमागधी एवं शौरसेनी में स् का प्रयोग होता है। पालि में केवल स् का ही प्रयोग होता है। इस कारण पालि का आधार मागधी तो हो ही नहीं सकता। इसका मूल आधार अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी ही हो सकती है। इस सम्बंध में आगे विचार किया जाएगा।

सम्प्रति, संस्कृत से पालि के भेदक अन्तरों को जानना आवश्यक है। ये निम्न हैं–

(1) संस्कृत तक ए, ओ, ऐ,औ सन्ध्यक्षर थे अर्थात् अ + इ-ए, अ +उ-ओ आ + इ-ऐ, आ + उ-औ। (सन्ध्यक्षर = दो स्वर मिलकर जब एक अक्षर का निर्माण करें)

(दे. डॉ. महावीर सरन जैन– परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृष्ठ 175-182)

पालि में ऐ एवं औ के स्थान पर ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा। अय् एवं अव् के स्थान पर भी ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा। व्यंजन गुच्छ के पूर्व ए एवं ओ का ह्रस्व उच्चारण होने लगा। इस प्रकार पालि में ए एवं ओ के ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों प्रकार के उच्चारण विकसित हो गए।

(2) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्रयुक्त ऋ एवं ऌ का लोप हो गया।

(3) व्यंजन गुच्छ में एक व्यंजन का लोप तथा अन्य व्यंजन का समीकरण पालि एवं प्राकृत भाषाओं का महत्त्वपूर्ण भेदक लक्षण है। वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों में प्रयुक्त पहले व्यंजन का लोप होकर बाद के व्यंजन का समीकरण हो जाता है अथवा बाद के व्यंजन का लोप होकर पूर्व व्यंजन का समीकरण हो जाता है। उदाहरणरू

(अ) पहले व्यंजन का लोप तथा बाद के व्यंजन का समीकरण:

सप्त-सत्त, शब्द-सद्द, कर्क-कक्क, सर्व-सब्ब, निम्न-निन्न

(आ) बाद के व्यंजन का लोप तथा पहले व्यंजन का समीकरण:

लग्न-लग्ग, तक्र-तक्क, शुक्ल-सुक्क, शक्य-सक्क, अश्व-अस्स

(4) शब्द-रूपों में व्यंजनान्त रूपों का अभाव हो गया। शब्द सस्वर बन गए।

(5) द्विवचन का लोप हो गया। आगे भी इस वचन का प्रयोग होना बन्द हो गया।

(6) यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि वैदिक भाषा में रूप-रचना में अधिक विविधता और जटिलता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विभक्ति के बहुवचन में देव शब्द के देवा: और देवास: दोनों रूप मिलते हैं। इसी तरह तृतीया के एकवचन मे देवै: और देवभि: दोनों रूप मिलते हैं। संस्कृत में आकर रूप अधिक व्यवस्थित हो गए और अपवादों तथा भेदों की कमी हो गयी। उदाहरणार्थ, पूर्वोक्त दोनों वैकल्पिक रूप छँट गए और एक-एक रूप (देवा: तथा देवै:) रह गए। पालि में वैदिक भाषा के रूपों का भी प्रयोग मिलता है।

(7) आत्मनेपद लुप्तप्राय है।

पालि का महत्त्व बौद्धमत की हीनयान शाखा के साहित्य के माध्यम के रूप में बहुत अधिक है।

(ख) जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषा:

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि 600 ईस्वी पूर्व से लेकर 500 ईस्वी पूर्व की काल अवधि में जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर एवं बौद्ध धर्म के

संस्थापक बुद्ध ने मगध, विदेह, वत्सदेश, कुणाल, अंगदेश, काशी, पांचाल, कोशल, शूरसेन, दशार्ण आदि राज्यों एवं जनपदों में चतुर्दिक घूम घूमकर उपदेश, प्रवचन दिए। उपर्युक्त वर्णित राज्यों एवं जनपदों की भौगोलिक स्थिति वर्तमान में नेपाल देश का भूभाग तथा भारत के बिहार, झारखंड, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ आदि राज्यों का भूभाग है। राजनैतिक दृष्टि से इस काल में दो प्रकार की शासन व्यवस्थों थीं। मगध में राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था थी। मल्ल, लिच्छिवी, काशी, कोशल आदि 18 गणराज्यों ने मिलकर महासंघ बनाया था। जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली था। तथा इस महासंघ का मुख्यालय वैशाली में स्थित था। इस महासंघ की सम्पर्क भाषा का अंतरराज्यीय व्यवहार के लिए प्रयोग होता होगा तथा भारत के बड़े भूभाग के निवासियों के नागरिक इसे समझते होंगे।

महावीर के जीवनवृत्त में देशना के संदर्भ में यह जानकारी मिलती है कि उनके युग में कितनी भाषाएँ एवं उनकी क्षेत्रीय उपभाषाएँ/बोलियाँ बोली जाती थीं तथा किस प्रकार उन्होंने ऐसी भाषा में उपदेश दिया जो सबके लिए बोधगम्य थी। भाषाओं के लिए महाभाषाओं एवं क्षेत्रीय प्रभेदों के लिए भाषाओं/बोलियों अभिधान का प्रयोग हुआ है तथा यह विवरण भी मिलता है कि जब उनकी देशना हुई तो उसका परिणमन अठारह महाभाषाओं एवं सात सौ भाषाओं में होने लगा जिसकी व्याख्या मैंने इस प्रकार की है:

देशना का विभिन्न भाषाओं में परिणमन: ग्रन्थों में वर्णित है कि भगवान महावीर का उपदेश अर्ध मागधी प्राकृत में हुआ। अर्ध मागधी का श्रवण के समय अठारह भाषाओं में तथा सात सौ भाषाओं में परिणमन होने लगा। इसकी एक व्याख्या इस प्रकार सम्भव है कि भगवान महावीर एवं गौतमबुद्ध के समय मगध और शूरसेन प्रदेश के मध्यवर्ती भूभाग में व्यवहृत जनभाषा (अर्ध मागधी का महावीर युगीन भाषा रूप) का व्यवहार अठारह महाभाषाओं के क्षेत्र में सम्पर्क भाषा के रूप में होता होगा। अर्ध-मागधी सम्पर्क भाषा थी जबकि अन्य भाषाएँ प्रदेशों की भाषाएँ थीं। कुछ ग्रन्थों में मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड़, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा गया है। कुछ ग्रन्थों में कोल्ल, मगध, कर्णाटक, अन्तर्वेदी, कीर, ढक्क,सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताजिक, कोशल, मरहट्ट (महाराष्ट्र) और आन्ध्र प्रदेश की भाषाओं का देसी भाषा के रूप में उल्लेख मिलता है। अर्धमागधी का जो रूप सम्पूर्ण प्रदेशों में सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत था। उसमें उन देशी भाषाओं के शब्द आदि

का मिश्रण हो गया था। सम्पर्क-भाषा होने के कारण यह सर्वभाषात्मक थी। इसका प्रयोग होने पर सभी प्रदेशों के निवासियों के लिए बोधगम्य थी।

(दे. डॉ. महावीर सरन जैन– भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृ. 69)

इस कारण विद्वानों एवं शोधकों को इस काल की भाषा का काल 500 ई. पू. से न मानकर 600 ई. पू. से मानना चाहिए। भाषा का अभिधान पालि की अपेक्षा महावीर एवं बुद्ध के उपदेशों की भाषा करना चाहिए। दोनों ने एक ही काल में तथा समान भूभागों में उपदेश प्रवचन दिए थे। दोनों के उपदेशों की भाषा का गहन अध्ययन करने पर इसी कारण उनकी भाषिक समानता स्पष्ट हो जाती है। दोनों ने एक भाषा का व्यवहार किया था। यहाँ दोनों के उपदेशों की भाषिक समानता को विवेचित एवं विश्लेषित करने का अवकाश नहीं है। अभी तो हम केवल दोनों के उपदेशों के एक-एक वाक्य देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहेंगे –

(अ)भगवान महावीर की वाणी- अप्पा कत्ता विकत्ता य।

(आ) गौतम बुद्ध की वाणी - अत्ता ही अत्तनो नाथो।

अभी तक इस काल की भाषा का अध्ययन केवल बुद्ध वचनों के आधार पर हुआ है। पालि के आधार पर हुआ है। विद्वानों को दोनों के उपदेशों की भाषा के गहन अध्ययन करते हुए तदनन्तर अशोक के शिलालेखों (260 ई. पू. से 232 ई. पू.) में प्राप्त भाषिक भिन्नताओं का गहन अध्ययन सम्पन्न करना चाहिए तथा यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि प्राप्त भाषिक भिन्नताएँ हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं की भाँति हैं अथवा हिन्दी के ही कोलकोतिया हिन्दी एवं मुंबइया हिन्दी की भाँति एक ही तद्युगीन सम्पर्क भाषा के प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषाओं से रंजित रूप हैं। मेरा अपना विचार है कि ये अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। एक भाषा के तत्कालीन बोले जाने वाले विभिन्न भाषाओं से रंजित रूप हैं।

(ग) अशोक के अभिलेख

अशोक के अभिलेख पश्चिमोत्तर भारत (अब पाकिस्तान) से लेकर दक्षिण भारत के कर्नाटक तक मिले हैं। इनका काल 256 ईस्वी पूर्व से लेकर 240 ईस्वी पूर्व माना जाता है। दो अभिलेख (शहबाजगढ़ी और मानसेहरा) खरोष्ठी लिपि में, एक अभिलेख (कंदहार के पास शार-ए-कुना) आरमेई एवं यूनानी में तथा शेष सभी ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। ब्राह्मी लिपि के अभिलेखों

में अ, आ, इ, उ, ए एवं ओ इन 6 मूल स्वरों के लिए वर्ण मिले हैं। व्यंजन+अ अर्थात् स्वरांत निम्नलिखित व्यंजनों के लिए वर्ण मिलते हैं–

(क) स्पर्श व्यंजन: क, ख, ग,घ,च,छ,ज,झ,ट,ठ,ड,ढ,त,थ,द,ध,प,फ,ब,भ

(ख) नासिक्य व्यंजन: ङ्,ण,न,म

(ग) संघर्षी व्यंजन: श,ष,स,ह

(घ) पार्श्विक व्यंजन: ल,ळ

(च) लोड़ित व्यंजन: र

(छ) अर्ध स्वर –य,व

इन स्वर एवं व्यंजन वर्णों के लिए इन अभिलेखों की ब्राह्मी लिपि में मिलने वाले वर्णों एवं कुछ व्यंजनों को स्वर मात्राओं सहित प्रदर्शित किया जा सकता है:

अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिलेख भी मिलें हैं जिनमें कलिंगराज खारवेल का हाथी गुम्फा का अभिलेख एवं यवन राजदूत हिलियोदोरस का बेसनगर का अभिलेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट है कि तद्युगीन प्राकृत में स्थान भेद से भेद हो गए थे। ये भेद मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं - उत्तर-पश्चिमी, दक्षिण-पश्चिमी, मध्यदेशीय, पूर्वी। विद्वानों द्वारा इनका विस्तृत अध्ययन सुलभ है।

(दे0 1. डॉ. सुकुमार सेन– तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण, पृ0 16-21, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, (1969)

2. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री– अशोक-कालीन भाषाओं का भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण, परिषद्-पत्रिका, वर्ष 8, अंक 3-4)

कुछ विद्वानों ने इस काल के अन्तर्गत मध्य एशिया के नियत स्थान से सर औरेल स्टीन द्वारा प्राप्त खरोष्ठी पाण्डुलिपियों की नियत प्राकृत का भी अध्ययन किया है, किन्तु ये प्रथम प्राकृत की कालसीमा के बाद की हैं। इस कारण नियत प्राकृत का प्रथम प्राकृत काल सीमा अर्थात् 500 ईस्वी पूर्व से ईस्वी सन् के आरम्भ तक के अन्तर्गत अध्ययन करना संगत नहीं है।

द्वितीय प्राकृत (ई. सन् के आरम्भ से 500 ईस्वी तक)-

साहित्यिक प्राकृत-प्राकृतें विभिन्न लोक-भाषाएँ थीं, वाचिक भाषाएँ थीं। आज उन्हें जानने का आधार उनका साहित्यिक रूप ही है। प्राकृतों की संख्या को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। परम्परागत दृष्टि से इनके निम्नलिखित भेद माने जाते हैं:

(1) महाराष्ट्री(विदर्भ महाराष्ट्र)
(2) शौरसेनी (सूरसेन- मथुरा के आस-पास)
(3) मागधी (मगध)
(4) अर्द्धमागधी (कोशल)
(5) पैशाची (सिन्ध)।

वस्तुत: प्राकृतों की संख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि वे विभिन्न जनपदों की लोक भाषाएँ थीं। इसलिए जितनी लोक-भाषाएँ रही होंगी, उतनी ही प्राकृतें भी मानना चाहिए। किन्तु इन लोक प्राकृतों को जानने का कोई साधन नहीं है। यों आभारी, आवन्ती, गौड़ी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली आदि अनेक नाम यत्र-तत्र पाये जाते हैं। प्राकृत भाषाओं का ज्ञान मुख्यत: संस्कृत नाटकों और जैन साहित्य पर आधारित है। विभिन्न विद्वानों ने इन प्राकृतों का अध्ययन किया है।

(1)शौरसेनी–इसका प्रयोग तीसरी शताब्दी से मिलने लगता है। प्राकृतों का संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटकों एवं शूद्रक के मृच्छकटिकम् में अधिक व्यवहार हुआ है। पिशल एवं कीथ आदि विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिकम् की रचना नाट्यशास्त्र में विविध प्राकृतों के प्रयोग के नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए हुई। इस नाटक के टीकाकार के अनुसार नाटक में चार प्रकार के प्राकृतों का प्रयोग किया जाता है:

1. शौरसेनी 2. अवंतिका 3. प्राच्या 4. मागधी।

इस नाटक में 11 पात्रों ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। इन पात्रों में सूत्राधार, नटी, नायिका, ब्राह्मणी स्त्री, श्रेष्ठी तथा इनके परिचारक एवं परिचारिकाएँ हैं। नाटक के 2 अप्रधान पात्रों ने अवंतिका का प्रयोग किया है। प्राच्या का प्रयोग केवल एक पात्र 'विदुषक' ने किया है। नाटक के 6 पात्रों ने मागधी का प्रयोग किया है। इन पात्रों में कुंज, चेटक और ब्राह्मण-पुत्र शामिल हैं। शकारि, चांडाली एवं ढक्की जैसे–गौण प्राकृत रूपों का प्रयोग एक-दो पात्रों के द्वारा ही हुआ है। नाटक में शौरसेनी तथा इसके बाद मागधी प्राकृत का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

जैन साहित्य की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग दिगम्बर आम्नाय के आचार्य गुणधर एवं आचार्य धरसेन के ग्रंथों में हुआ है। ये ग्रंथ गद्य में हैं। आचार्य धरसेन का समय सन् 87 ईसवीं के लगभग मान्य है। आचार्य गुणधर का समय आचार्य धरसेन के पूर्व माना जाता है। आचार्य गुणधर की रचना कसाय पाहुड सुत्त तथा आचार्य धरसेन एवं उनके शिष्यों आचार्य पुष्पदंत तथा आचार्य भूतबलि

द्वारा रचित षटखंडागम है जिनमें प्रथम शताब्दी के लगभग की शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

(महावीर सरन जैन: भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृष्ठ 100-105, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (2006) प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों में 'प्राकृत प्रकाश' में पहले नौ परिच्छेद लिखे गए जिनमें बाद में दो बार वृद्धि की गई। पहले के परिच्छेदों के रचनाकार वररुचि हैं। इनमें आदर्श प्राकृत का निरूपण प्रस्तुत है। अंत में, कथन है कि प्राकृत का शेष स्वरूप समझना चाहिए। वररुचि के निरूपण पर कात्यायन, भामह, वसंतराज, सदानंद एवं रामपाणिवाद ने टीकाएँ लिखी हैं। बाद के 10 वें परिच्छेद से 12 वें परिच्छेदों के 14 सूत्रों में पैशाची का तथा 17 सूत्रों में मागधी का निरूपण किया गया है। इन दोनों की प्रकृति शौरसेनी कही गई है। इसके पूर्व ग्रंथ में 'शौरसेनी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि पहले के नौ परिच्छेदों में प्राकृत का निरूपण हुआ है। इस सम्बंध में विद्वानों का यही अनुमान है कि जिस सामान्य प्राकृत का निरूपण प्रस्तुत है, वह वास्तव में उस काल की प्रचलित शौरसेनी है। उस काल में चूँकि इसका प्रचलन एवं व्यवहार सर्वाधिक होता था, इस कारण इसके पहले किसी विशेषण को जोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्राकृत प्रकाश का अंतिम 12 वाँ परिच्छेद बहुत बाद का प्रतीत होता है। इस पर भामह एवं अन्य किसी की टीका उपलब्ध नहीं है। इस परिच्छेद के पूर्व ग्रंथ में कहीं भी 'महाराष्ट्री प्राकृत' का प्रयोग नहीं है। इस अंतिम परिच्छेद के अंतिम 32 वें सूत्र में उल्लिखित है, 'शेषं महाराष्ट्री वतं'। विद्वानों का यह अनुमान तर्क संगत है कि जिस काल में महाराष्ट्री को आदर्श काव्य-भाषा की मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उस काल में यह अंतिम परिच्छेद जोड़ा गया।

भाषिक विशेषताएँ-

(1) शौरसेनी में दो स्वरों के मध्य संस्कृत के अघोष - त् एवं - थ् सघोष हो जाते हैं अर्थात् त्-द् और थ्-ध् हो जाते हैं। भवति-होदि।

(2) क्ष-क्ख। चक्षु-चक्खु-इक्षु-इक्खु-कुक्षि-कुक्खि।

(3) 'य' प्रत्यय का 'ईअ' हो जाता है। यथा संस्कृत 'गम्यते' का रूप 'गमीअदि' हो जाता है।

(2)महाराष्ट्री:

दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र आश्रित आदर्श प्राकृत कहा है। (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं विदु:। - काव्यादर्श 1-34)

विद्वानों में इस पर मतभेद है कि महाराष्ट्री एवं शौरसेनी का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत, विधागत। कुछ विद्वान महाराष्ट्री को शौरसेनी का ही विकसित रूप मानते हैं।

(Dr- Man Mohan Ghosha, ,Maharastri,A late phase of Shauraseni ,] Journal of the Department of Letters of Calcutta University] Vol., 1933)

सुनीति कुमार चटर्जी ने भी शौरसेनी प्राकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की अवस्था महाराष्ट्री प्राकृत को माना है।

(भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी: पृष्ठ 103, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली (1963))

शैलीगत/विधागत अन्तर मानने वाले विद्वानों का मत है कि शौरसेनी में गद्य तथा महाराष्ट्री में पद्य की रचना हुई है। इस कारण शौरसेनी गद्य की एवं महाराष्ट्री पद्य की भाषा है।

गहन अध्ययन करने के बाद हमारा मत है कि विद्वानों के ये मत यद्यपि परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि तत्त्वत: ये अविरोधी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले शौरसेनी में गद्य लिखा गया बाद में महाराष्ट्री में पद्य रचना हुई। कवियों ने जब महाराष्ट्री में पद्य रचना की तो उन्होंने मृदुता के लिए स्वर मध्य स्थिति में व्यंजनों का लोप कर भाषा को स्वर बहुल बना दिया। इस कारण शौरसेनी एवं महाराष्ट्री में भाषिक अंतर परिलक्षित होता है।

भाषिक विशेषताएं-

(1) महाराष्ट्री प्राकृत की उल्लेखनीय विशेषता है - स्वर बहुलता। स्वर बाहुल्य होने के कारण महाराष्ट्री प्राकृत में रचित काव्य-रचनाओं में संगीतात्मकता का गुण आ गया है।

(2) दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन का लोप हो जाता है। लोको-लोओ, रिपु-रिऊ

(3) स्वर मध्य महाप्राण व्यंजनों का लोप होकर केवल ' ह् ' रह जाता है। मेघ-मेहो, शाखा-शाहा

(4) स्वर मध्य ऊष्म व्यंजनों (श् ष् स्) का ' ह् ' हो जाता है। दश-दह, पाषाण-पाहाण।

(5) अपादान एकवचन में - आहं विभक्ति प्रत्यय का प्रयोग अधिक होता है।

(6) अधिकरण एकवचन के रूपों की सिद्धि - ए, - म्मि से होती है। उदाहरणार्थ-लोकस्मिन्-लोए, लोअम्मि।

(3)मागधी:

जैसा नाम से स्पष्ट है, मागधी मगध की भाषा थी। इसका प्रयोग नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों के सम्भाषणों के लिए किया गया है। महाराष्ट्री और शौरसेनी की तुलना में मागधी का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

(4)अर्द्धमागधी:

अर्द्धमागधी की स्थिति मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के बीच मानी गई है। इसलिए उसमें दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।

(दे0 मार्कण्डेय - प्राकृत सर्वस्व,पृ0 12 -38)।

अर्द्धमागधी का महत्त्व जैन साहित्य के कारण अधिक है।

भाषिक विशेषताएँ-

(1) 'र' एवं 'ल' दोनों का प्रयोग होता है।

(2) दन्त्य का मूर्धन्य हो जाना। स्थित झ ठिप

(3) ', ' स् में केवल स् का प्रयोग होता है।

(4) अनेक स्थानों पर स्पर्श व्यंजनों का लोप होने पर 'य' श्रुति का आगम हो जाता है। सागर-सायर, कृत-कयं। इस नियम का अपवाद है कि 'र' व्यंजन का सामान्यत: लोप नहीं होता।

(5) कर्ता कारक एक वचन के रूपों की सिद्धि मागधी के समान एकारान्त तथा शौरसेनी के समान ओकारान्त दोनों प्रकार से होती है।

(5) पैशाची:

पैशाची भारत के उत्तर पश्चिम में बोली जाती थी। गुणाढ्य ने पैशाची में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वृहत्कथा'(बड्डकहा) लिखी थी, जिसकी उत्तरवर्ती कवियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इसका पैशाची पाठ अब उपलब्ध नहीं है। इस कारण किसी साहित्यिक रचना के आधार पर इसकी भाषिक विशेषताओं का निरुपण सम्भव नहीं है।

भाषिक विशेषताएँ –

'प्राकृत काल' में भाषा भेद आज की अपेक्षा बहुत अधिक रहे होंगे। जो साहित्यिक प्राकृत उपलब्ध हैं तथा जिनका परिचय एवं जिनकी भाषिक विशेषताओं का निरूपण किया गया है, उनको प्राकृत एवं ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने भिन्न देश भाषाओं के नाम से अभिहित किया है। इनको अलग अलग भाषाएँ माना गया है। इस सम्बंध में हमारा मत भिन्न है। इन तथाकथित साहित्यिक प्राकृतों

की भाषिक विशेषताओं का जब हम अध्ययन करते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि ये आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में ये हिन्दी, सिंधी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, उडिया(ओड़िया /ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी आदि की भाँति अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। यदि हिन्दी भाषी हिन्दीतर किसी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषा को बोलना नहीं जानता तो वह उस भाषा को नहीं समझ पाता। हिन्दीतर भाषा का ग्रंथ उसके लिए बोधगम्य नहीं होता। मगर इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों में से किसी एक साहित्यिक प्राकृत का विद्वान अन्य प्राकृतों को समझ लेता है। हम जानते हैं कि प्राकृत के विद्वान प्रत्येक प्राकृत को समझ लेते हैं। इन तथाकथित विभिन्न प्राकृतों की जो भाषिक भिन्नताओं का विवरण उपलब्ध है, वह इतना भेदक नहीं है कि इन्हें अलग अलग भाषाओं की कोटियों में रखा जाए। इस कारण, हम इन साहित्यिक प्राकृतों को अलग-अलग भाषाएँ नहीं मानते। हमारे इस मत की पुष्टि का आधार केवल भाषिक ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से 'पारस्परिक बोधगम्यता' का सिद्धांत भी है। इसको यदि हम और स्पष्ट करना चाहें तो हम यह कहना चाहेंगे कि ये तथाकथित भिन्न साहित्यिक प्राकृत आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं (यथा: हिन्दी, सिंधी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, उड़िया(ओड़िया/ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी) की भाँति अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। ये कोलकतिया हिन्दी, मुम्बइया हिन्दी, नागपुरिया हिन्दी की भाँति हिन्दी भाषा के विभिन्न हिन्दीतर भाषाओं से रंजित रूपों की भाँति हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए, मैं प्राकृत एवं भाषा-विज्ञान के विद्वानों का ध्यान आचार्य भरत मुनि के प्रसिद्ध ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' की ओर आकर्षित करना चाहूँगा।

आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में यह विधान किया है कि नाटक में चाहे शौरसेनी का प्रयोग किया जाए अथवा इच्छानुसार किसी देशभाषा का क्योंकि नाटक में नाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। देशभाषाओं की संख्या सात बतलाई गई है:

(1) मागधी (2) आवंती (3)प्राच्या (4) शौरसेनी (5) अर्ध-मागधी (6)वाह्लीका (7) दक्षिणात्य।

(भरत मुनि: नाट्य शास्त्र - 18-34-35)

विद्वान स्वयं विचार करें कि क्या ये सात देश-भाषाएँ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं (यथा: हिन्दी, सिंधी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, उडिघ्या(ओड़िया,

ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी) की भाँति अलग अलग भाषाएँ हैं। भरत मुनि का विधान है कि नाटककार अपने नाटक में इच्छानुसार देश प्रसंग के अनुरूप किसी भी देश भाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई नाटककार देश प्रसंगानुसार भाषा प्रयोग नीति का समर्थक होते हुए भी अपने नाटक में भिन्न भाषाओं का प्रयोग नहीं करता। इसका कारण यह है कि भिन्न भाषाओं के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता नहीं होती। यदि बोधगम्यता नहीं होगी, संप्रेषणीयता नहीं होगी तो 'भावन' कैसे होगा, 'रस निष्पत्ति' कैसे होगी। कोई हिन्दी नाटककार अथवा हिन्दी फिल्म की पटकथा का लेखक बांग्ला भाषी पात्र से बांग्ला भाषा में नहीं बुलवाता, उसकी हिन्दी को बांग्ला से रंजित कर देता है। एक आलेख में लेखक ने भारत की सामासिक संस्कृति के माध्यम की निर्मिति में हिन्दी सिनेमा के योगदान को रेखांकित करने के संदर्भ में प्रतिपादित किया है कि हिन्दी सिनेमा ने बांग्ला, पंजाबी, मराठी, गुजराती, तमिल आदि भाषाओं, हिन्दी की विविध उपभाषाओं एवं बोलियों के अंचलों तथा विभिन्न पेशों की बस्तियों के परिवेश को मूर्तमान एवं रूपायित किया है। भाषा तो हिन्दी ही है मगर उसके तेवर में, शब्दों के उच्चारण में तथा एकाधिक शब्द-प्रयोग में परिवेश का तड़का मौजूद है।

महावीर सरन जैन का आलेख - भाखा बहता नीर)

निचोड़ यह है कि ये सात देश भाषाएँ भिन्न भाषाएँ नहीं हैं, एक साहित्यिक प्राकृत के तत्कालीन सात देशों की भाषाओं से रंजित रूप हैं। आचार्य भरत मुनि ने इसके प्रयोग के सम्बंध में जो निर्देश दिए हैं, उनसे भी हमारे मत की पुष्टि होती है। नाटक में कब किस प्रकार के पात्रों के लिए किस प्राकृत का प्रयोग किया जाए - इस सम्बेंध में भरत मुनि का निम्न विधान है:

(1) अन्त:पुर निवासियों के लिए मागधी
(2) चेट, राजपुत्र एवं सेठों के लिए अर्द्धमागधी
(3) विदूषकादिकों के लिए प्राच्या
(4) नायिका और सखियों के लिए शौरसेनी मिश्रित आवंती
(5) योद्धा, नागरिकों एवं जुआरियों के लिए दक्षिणात्या और उदीच्य
(6) खस, शबर, शक तथा उन्हीं के स्वभाव वालों के लिए वाहलीका

एक ही दर्शक समाज के श्रोताओं के लिए उपर्युक्त निर्देश से यह स्वयं सिद्ध एवं पुष्ट है कि सात देश-भाषाओं का तात्पर्य भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि ये सात देश-भाषाएँ एक ही प्राकृत-भाषा के तत्कालीन सात देश भाषाओं से रंजित रूप हैं।

(इ) तृतीय प्राकृत (500 ईस्वी से 1000 ईस्वी तक)

अपभ्रंश

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम महाभाष्य में मिलता है। उसके बाद भामह, दण्डी आदि ने काव्य भाषाओं की चर्चा के प्रसंग में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने नागर, ब्राचड और उपनागर- तीन अपभ्रंशों की चर्चा की है। इनमें नागर की गुजरात में, ब्राचड की सिन्ध में और उपनागर की दोनों के बीच में स्थिति बतायी गयी है। स्पष्ट है कि मार्कण्डेय ने केवल पश्चिम के सीमित भू-भाग के अपभ्रंशों की ही चर्चा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके समानान्तर भारत के अन्य भागों में भी किसी न किसी अपभ्रंश का व्यवहार होता होगा। इस काल में भी हमें दोनों स्थितियाँ मिलती हैं। एक तरफ सम्पर्क भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का व्यवहार होता था। तो दूसरी तरफ भिन्न भिन्न देश अपभ्रंशों का चलन था।

आचार्य भरतमुनि ने उकारबहुला कहकर जिस शौरसेनी का परिचय दिया है वह हिमालय से लेकर सिन्ध तक प्रचलित थी।

हिमवत् सिन्धु सौ वीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत।
(नाट्यशास्त्र, 17/62)

शौरसेनी की अन्तर्राजीय व्यवहार की स्थिति के बारे में डॉ. बाबूराम सक्सेना के विचार हैं–

'यही (शौरसेनी अपभ्रंश) भारतवर्ष भर में - क्या मध्यदेश, क्या मगध और मिथिला और क्या गुजरात और महाराष्ट्र सब कहीं - साहित्य का माध्यम बना हुआ था। और जनता के परस्पर अंतः प्रान्तीय व्यवहार का साधन था। '

(मध्यदेश का भाषा विकास, पृ0 25 - नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 50, अंक 1 - 2 सं0 2002 (सन् 1945)।

इसी मत की पुष्टि करते हुए डॉ. सुनीति कुमार चाटर्जी ने अभिव्यक्त किया है कि अपभ्रंश काल में पूर्व के कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया है और अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। इसी अपभ्रंश में साहित्य सृजन की परम्परा बहुत बाद तक चलती रही तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के आदि एवं मध्यकाल के आरम्भ तक सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा

मूल रूप से शौरसेनी का वह परवर्ती रूप रहा जो गुजरात और राजस्थान में बोली जाने वाली बोलियों से मिश्रित हो गया था।

राजशेखर के समय (दसवीं शती) तक शौरसेनी अपभ्रंश पंजाब, राजस्थान और गुजरात अर्थात समूचे पश्चिमी भारत की भाषा हो गई थी। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर, सरहपा, कन्हपा आदि की अपभ्रंश रचनाओं से प्रमाणित होता है कि यह उस समय तक समस्त उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी।

अपभ्रंश के भेदों की दृष्टि से मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में सूक्ष्म भेद व्यवस्थित प्रकरण के अन्तर्गत अपभ्रंश के 27 भेदों का नामोल्लेख किया है, उनसे अपभ्रंश के भेदों के सम्बन्ध में संकेत मिलता है।

(1)ब्राचड (2) लाट (3) वैदर्भ (4) उपनागर (5) नागर (6) वर्वर (7) आवन्त्य (8) पंचाल (9) टक्क (10) मालव (11) कैकय (12) गौड़ (13) औड्र (14) हैव (15) पाश्चात्थ (16) पाण्डय (17) कुन्तल (18) सेंहली (19) कलिंग (20) प्राच्य (21) कार्णाट (22) कांच्य (23) द्रविड (24) गौर्जर (25) आभीर (26) मध्यदेशीय (27) वैताल।

इन 27 नामों का उल्लेख करने के बाद भी मार्कण्डेय को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने आगे कहा कि विभाषा के भेदों की दृष्टि से तो अपभ्रंश के हजारों भेद किए जा सकते हैं।

इन विभिन्न अपभ्रंशों से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव हुआ है। इस प्रकार से अपभ्रंश प्राकृतों और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की संयोजक कड़ी है। इस सम्बंध में आगे विचार किया जाएगा।

डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री–अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, (1966)

अपभ्रंश की विशेषताएँ –

(1) अपभ्रंश तक पहुँचते पहुँचते संस्कृत की योगात्मकता के नियमों के टूटने के निशान दिखाई देने लगते हैं। डॉ. हीरालाल जैन ने संस्कृत की योगात्मकता से हिन्दी की अयोगात्मकता की विकास यात्रा को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है– ' इस प्रकार 'रामः गतः वनं' (संस्कृत) से 'रामो गओ वणं' (प्राकृत) बनकर अपभ्रंश में 'रामु गयउ वणु' और हिन्दी में 'राम गया वन' हो गया।

(डॉ. हीरालाल जैन रचना और पुनर्रचना, पृ0 40 – 41, डॉ. भीमराव अम्बेदकर विश्वविद्यालय, आगरा, (नवम्बर, 2002))

(2) प्राकृत की ध्वनियाँ अपभ्रंश में भी सुरक्षित हैं।

(3) द्वित्व व्यंजनों में से एक का लोप और पूर्ववर्ती अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो जाता है। सं. तस्य-प्रा. तस्स-अ. तासु

(4) अपभ्रंश में केवल तीन कारक-समूह रह गए। (1) कर्ता - कर्म - सम्बोधन (2) करण - अधिकरण (3) सम्प्रदान एवं सम्बंध में पहले एकरूपता आई। बाद में आपादान का भी इसमें समावेश हो गया। इस प्रकार क्रिया के काल-रूपों में जो विविधता थी, वह बहुत कम हो गयी।

(5) कारकीय अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभक्तियुक्त पद के बाद परसर्ग जैसे–शब्दों का प्रयोग होने लगा। सम्बंध कारक के लिए - केर, केरअ, केरी, तणिउ, अधिकरण कारक के लिए - मांझ, मज्झि, उप्परि, सम्प्रदान कारक के लिए - केहिं, तण तथा अपादान कारक के लिए - होन्तउ का प्रयोग होने लगा।

(6) क्रिया की रचना कृदन्त रूपों से भी होने लगी। काल रचना की जटिलता कम हो गयी।

(7) सर्वनामों के रूपों में परिवर्तन हो गया। उदाहरण के लिए उत्तम पुरूष एवं कर्ता कारक के लिए - हउं का प्रयोग अधिक हुआ है।

(8) अपभ्रंश में देशी धातुओं एवं शब्दानुकरण मूलक धातुओं का प्रयोग भी मिलता है।

(9) अपभ्रंश में देशी शब्दावली के साथ साथ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उद्‌गम सूचक शब्दों एवं मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है।

(10) वर्तमान कालिक कृदन्तों के उदाहरणों में पुल्लिंग - डज्झंत, सिंचंत, करंत तथा स्त्रीलिंग - उत्तारंति द्रष्टव्य हैं।

(11) भूतकालिक रचना कृदन्तों से ही अधिक होती है। उदाहरण - अक्खिय, लइय, धूमाविय, अवलोइय, कहिय, गालिअ, भक्खिअ।

(12) क्रियाओं में आत्मनेपद, परस्मैपद एवं भ्वादि आदि का कोई भेद नहीं रहा। द्विवचन का तो पालि में ही लोप हो गया था। द्विवचन का बोध कराने के लिए 'वे', 'वि' शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ:

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। इस सम्बन्ध में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ–

1. आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ लगभग पूर्णत: अयोगात्मक हो गई हैं।
2. ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं, फिर भी लिपि में परम्परा का पालन किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, ष् का संस्कृत के समान मूर्द्धन्य स्थान से उच्चारण नहीं होता किन्तु लिखने में प्रयोग होता है। ॲ, क, ख, ग, ज, फ अनेक विदेशी ध्वनियों का भी भाषाओं में प्रवेश हो गया है। इनका प्रयोग शिक्षित वर्ग विशेष के द्वारा होता है। इनका आधुनिक भाषाओं में स्वनिमिक महत्त्व के मुद्दे पर विद्वानों में मतभेद है।

   अपभ्रंश के समान द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक का लोप और पूर्ववर्ती अक्षर की दीर्घता यहां भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ कर्म-कम्म-काम, निद्रा-णिद्दा-नींद, सप्तं झसत्त-सात, अद्य-अज्ज-आज
4. अपभ्रंश की अपेक्षा भारतीय आय भाला में विभक्ति रूपों की संख्या में कमी आ गई है। कारकीय अर्थ के लिए संज्ञा विभक्ति रूपों के बाद परसर्गीय शब्द, शब्दांशों का प्रयोग होता है। संज्ञा विभक्ति शब्दों के प्राय: दो रूप पाये जाते हैं - अविकारी एवं विकारी।
5. केवल मराठी और गुजराती में तीन लिंग हैं। शेष भाषाओं में दो ही लिंग हैं।
6. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अंग्रेजी, अरबी और फारसी के बहुत सारे शब्द भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हो गये हैं। अपभ्रंश-काल तक शब्द भण्डार देशी था।

अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की स्थिति:

विद्वानों ने विचार किया है कि किस अपभ्रंश रूप से किस किन आधुनिक भारतीय आर्य भाषा/भाषाओं का विकास हुआ है। यह स्थिति निम्न रूप में मानी जाती है –

(1) मागधी-बिहारी हिन्दी (मैथिली, मागधी, भोजपुरी), बंगला, ओडिया, ओडिशा, असमिया
(2) अर्द्धमागधी-पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी)
(3) शौरसेनी-पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा, खड़ी बोली, बांगरू, कन्नौजी, बुंदेली) राजस्थानी हिन्दी (मेवाती, मारवाड़ी, मालवी, जयपुरी), गुजराती
(4) महाराष्ट्री-मराठी, कोंकणी
(5) शौरसेनी प्रभावित टक्की-पूर्वी पंजाबी

(6) व्राचड़-सिन्धी
(7) पैशाची-काश्मीरी

उपर्युक्त विवरण पूर्ण एवं वैज्ञानिक नहीं है। जो विवरण प्रस्तुत हैं वे अपभ्रंश काल के लिखित साहित्यिक भाषा रूपों से आधुनिक काल के बोले जाने वाले विभिन्न भाषिक रूपों के विकास के अतार्किक प्रयास हैं। संक्षेप में हम यह दोहराना चाहेंगे कि ' भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र में अपभ्रंश काल में भी विविध बोलचाल के रूपों का व्यवहार होता होगा। अपभ्रंश काल के इन्हीं विविध बोलचाल के रूपों से आधुनिक भारतीय भाषाओं के विविध बोलचाल के रूपों का उद्‌भव हुआ मगर अपभ्रंश काल के विविध बोलचाल के रूपों से सम्बन्धित सामग्री हमें आज उपलब्ध नहीं है। भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र' में अनेक क्षेत्रगत भिन्नताएँ होती हैं जिन्हें उस भाषा की क्षेत्रीय बोलियों/क्षेत्रीय उपभाषाओं के नाम से जाना जाता है। इतना ज्ञान तो सामान्य व्यक्ति को भी होता है कि 'चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी'। भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी यह भी जानता है कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र' में एक मानक भाषा रूप भी होता है जिसका उस भाषा क्षेत्र के सभी शिक्षित व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर प्रयोग करते हैं तथा यही मानक भाषा रूप लिखित भाषा का आधार होता है तथा प्राय: यही मानक रूप उस भाषा की 'साहित्यिक भाषा' का भी आधार होता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन– भाषा एवं भाषाविज्ञान, पृष्ठ 54 - 70, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण–

डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन का वर्गीकरण:

डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण डॉ. हार्नले के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए निम्न प्रकार से किया है –

(क) बाहरी उपशाखा

(अ) उत्तरी-पश्चिमी समुदाय
(1) लहँदा अथवा पश्चिमी पंजाबी
(2) सिन्धी
(आ) दक्षिणी-समुदाय
(3) मराठी

(इ) पूर्वी समुदाय
(4) ओडिया-ओडिघ्शा
(5) बिहारी
(6) बंगला
(7) असमिया

(ख) मध्य उपशाखा

(ई) बीच का समुदाय
(8) पूर्वी-हिन्दी

(ग) भीतरी उपशाखा

(उ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
(9) पश्चिमी हिन्दी
(10) पंजाबी
(11) गुजराती
(12) भीली
(13) खानदेशी
(14) राजस्थानी
(ऊ) पहाड़ी समुदाय
(15) पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली
(16) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी
(17) पश्चिमी-पहाड़ी

डॉ. ग्रियर्सन का यह विभाजन अब मान्य नहीं है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. सुनीतिकुमार चाटर्जी ने डॉ. ग्रियर्सन के इस मत की आलोचना अपनी पुस्तक 'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बेंगाली लैंग्वेज' के परिशिष्ट 'ए' के पृष्ठ 150 से 156 में की है। उन्होंने ध्वनि-विचार एवं पद-विचार दोनों ही दृष्टियों से इस वर्गीकरण से असहमति प्रगट की है। यहाँ दोनों विद्वानों के मतों और डॉ. सुनीतिकुमार जी द्वारा डॉ. ग्रियर्सन के विभाजन की आलोचनाओं को प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं है। जो अध्येता इनके विचारों एवं मान्यताओं को पढ़ना चाहते हैं, वे इनके ग्रंथों का अध्ययन कर सकते हैं।

8

वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत 2000 ईसापूर्व (या उस से भी पहले) से लेकर 600 ईसापूर्व तक बोली जाने वाली एक हिन्द-आर्य भाषा थी। यह संस्कृत की पूर्वज भाषा थी और आदिम हिन्द-ईरानी भाषा की बहुत ही निकट की संतान थी। उस समय फारसी और संस्कृत का विभाजन बहुत नया था, इसलिए वैदिक संस्कृत और अवस्ताई भाषा (प्राचीनतम ज्ञात ईरानी भाषा) एक-दूसरे के बहुत करीब हैं। वैदिक संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार की हिन्द-ईरानी भाषा शाखा की सब से प्राचीन प्रमाणित भाषा है।

हिन्दुओं के प्राचीन वेद धर्मग्रन्थ वैदिक संस्कृत में लिखे गए हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में श्रौत जैसे–सख्त नियमित ध्वनियों वाले मंत्रोच्चारण की हजारों वर्षों पुरानी परम्परा के कारण वैदिक संस्कृत के शब्द और उच्चारण इस क्षेत्र में लिखाई आरम्भ होने से बहुत पहले से सुरक्षित हैं। वेदों के अध्ययन से देखा गया है कि वैदिक संस्कृत भी सैंकड़ों सालों के काल में बदलती गई। ऋग्वेद की वैदिक संस्कृत, जिसे ऋग्वैदिक संस्कृत कहा जाता है, सब से प्राचीन रूप है। पाणिनि के नियमिकरण के बाद की शास्त्रीय संस्कृत और वैदिक संस्कृत में काफी अंतर है इसलिए वेदों को मूल रूप में पढ़ने के लिए संस्कृत ही सीखना पर्याप्त नहीं बल्कि वैदिक संस्कृत भी सीखनी पढ़ती है। अवस्ताई फारसी सीखने वाले विद्वानों को भी वैदिक संस्कृत सीखनी पड़ती है क्योंकि अवस्तई ग्रन्थ कम बचे हैं और वैदिक सीखने से उस भाषा का भी अधिक विस्तृत बोध मिल जाता है।

लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद

लौकिक संस्कृत-साहित्य का वैदिक साहित्य से अनेक प्रकार का भेद पाया जाता है। वैदिक साहित्य शुद्धतः धार्मिक है तथा इसमें सभी लौकिक तत्त्वों का बीज समाहित है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक-धर्ममनिरपेक्ष है अथवा धर्म में इसे लोक-परलोक से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। इस साहित्य में महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत), पुराण एवं अन्य काव्य (जिनमें गद्यकाव्य भी सम्मिलित हैं) नाटक, अलंकारशास्त्र, दर्शन, सूत्र, विधि अथवा नियम, कला, वास्तुशास्त्र, औषधि (आयुर्वेद), गणित, मशीन, उद्योग सम्बन्धी ग्रंथ और अन्य विभिन्न विद्याओं की शाखाएं भी प्राप्त होती हैं।

लौकिक साहित्य की भाषा तथा वैदिक साहित्य की भाषा में भी अन्तर पाया जाता है। दोनों के शब्दरूप तथा धातुरूप अनेक प्रकार से भिन्न हैं। वैदिक संस्कृत के रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं अपितु अनेक भी हैं, विशिष्टतया वे रूप जो क्रिया रूपों तथा धातुओं के स्वरूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में दोनों साहित्यों की कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) शब्दरूप की दृष्टि से - उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे–देवाः जनाः (प्रथम विभक्ति बहुवचन)। जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप 'देवासः' 'जनामः' भी बनते हैं। इसी प्रकार, प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'विश्वानि' रूप वैदिक साहित्य में 'विश्वा' भी बन जाता है। तृतीय बहुवचन में वैदिक संस्कृत में 'देवैः' इस रूप के साथ-साथ 'देवेभिः' भी मिलता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'व्योम्नि' अथवा 'व्योमनि' इन रूपों के साथ-साथ वैदिक संस्कृत में 'व्योमन' यह रूप भी प्राप्त होता है।

(2) वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में क्रियारूपों और धातुरूपों में भी विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृत इस विषय में कुछ अधिक समृद्ध है तथा उसमें कुछ और रूपों की उपलब्धि होती है जबकि लौकिक संस्कृत में क्रिया पदों की अवस्था बताने वाले ऐसे केवल दो ही लकार हैं–लोट् और विधिलिंग जोकि लट्प्रकृति अर्थात् वर्तमानकाल की धातु से बनते हैं।

उदाहरणार्थ पठ् से पठतु और पठेत् ये दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रियापदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो और अधिक लकार हैं–लोट लकार एवं निषेधात्मक लंगकार (Injunctive) (जो लौकिक संस्कृत में केवल

निषेधार्थक 'मा' से प्रदर्शित होता है और जो लकार लौकिक संस्कृत में पूर्णतः अप्राप्य है।) इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट् प्रकृति से ही नहीं बनते हैं, किन्तु लिट् प्रकृति और लुं प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातुरूप अत्यधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त लिं प्रत्यय सम्बन्धी भेद वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं जैसे–मिनीमसि भी (लट्, उत्तम पुरुष बहुवचन में) प्रयुक्त होता है, परन्तु लौकिक संस्कृत में 'मिनीमही' प्रयुक्त होता है। जहाँ तक धातु से बने हुए अन्य रूपों का प्रश्न है, लौकिक संस्कृत में केवल एक ही 'तुमुन्' (जैसे–गन्तुम्) मिलता है जबकि वैदिक संस्कृत में इसके लगभग एक दर्जन रूप मिलते हैं जैसे–गन्तवै, गम/यै, जीवसै, दातवै इत्यादि।

(3) पुनश्च, लौकिक संस्कृत आगे चलकर अधिकाधिक कृत्रिम अथवा सुबद्ध होती गई है और इसके उदाहरण हमें सुबन्धु और बाणभट्ट के गद्यकाव्यों में प्रयुक्त भयावह समासों में मिलते हैं। इस कला में वह अपने क्षेत्र के अन्य गद्यकारों से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

(4) कुछ वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं और कुछ नये शब्दों का उद्भव भी हो गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक शब्द 'अपस्' का 'कार्य' के अर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'परिवार' शब्द वैदिक संस्कृत में अनुपलब्ध है। यह वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की अपनी विशेषता है।

शब्दार्थ विज्ञान की दृष्टि से कुछ शब्दों में एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ है जैसे–'ऋतु' जिसका वैदिक संस्कृत में अर्थ है 'शक्ति' और लौकिक संस्कृत में उसका अर्थ 'यज्ञ' हो गया है।

ध्वनि अंतर

वैदिक संस्कृत में 'फ' और 'ख' की ध्वनियाँ थीं जो बाद की संस्कृत में खो गई। इसमें 'ख' के उच्चारण पर ध्यान दें क्योंकि यह 'ख' से बहुत भिन्न है, और 'खराब' और 'खास' जैसे–शब्दों में मिलती है। आधुनिक काल में एक गलत धारणा है कि 'फ' और 'ख' की ध्वनियाँ संस्कृत-परम्परा में विदेशज हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से 'फ' को 'उपमानीय' और 'ख' को 'जिह्वामूलीय' कहा जाता है। 'ख' की ध्वनि को विसर्ग में अघोष कण्ठ्य वर्णों से पहले उच्चारित किया जाता था।

अन्य अन्तर

भाषा में परिवर्तन के अतिरिक्त दोनों साहित्यों में कुछ और भिन्नताएँ प्राप्य हैं–

(1) प्रथमतः, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक साहित्य, प्रधानतः धार्मिक है जब कि लौकिक संस्कृत अपने वर्ण्यविषय की दृष्टि से धर्म के साथ-साथ लौकिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध है।

(2) दोनों की आत्मा यद्यपि अभिन्न है तथापि अभिन्नता में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं। वैदिक वांग्य, मुख्यतः जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हमें प्राप्त होता है, आशावादी है जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य निराशावादी है, इस निराशावाद की झलक बौद्धों के 'सर्व दुःखं' में भी है। बौद्धों के व्यवहार्यपक्ष 'करुणा' और 'मैत्री' का उद्घोष भी वैदिक साहित्य की मौलिकता है।

(3) वैदिक धर्म भी परवर्ती काल में अव्यक्त रूप से विशिष्ट परिवर्धित हुआ दिखाई देता है। यहाँ तक कि वैदिक युग के प्रधान देवता जैसे–इन्द्र, अग्नि, वरुण को लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई परन्तु ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों को वेदों में केवल गौण स्थान ही प्राप्त था, परवर्ती काल में इन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में कुछ नए देवी देवताओं–गणेश, कुबेर, लक्ष्मी और दुर्गा इत्यादि का भी वैदिक मूल से विकास हुआ।

(4) परवर्ती, विशेषतः आठवीं और नवीं शताब्दी के बाद के, कवियों में अत्युक्ति का आश्रय ग्रहण करने की ओर अधिक झुकाव है, जैसे–माघ, श्रीहर्ष आदि में जबकि पूर्ववर्ती कवियों जैसे–अश्वघोष (बौद्ध कवि), भास और कालिदास में अत्युक्ति का अभाव है। वैदिक वांग्य में अत्युक्ति का महा अभाव है।

(5) लौकिक संस्कृति में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोगों की ओर हमें एक विशिष्ट आग्रह दिखायी देता है। वैदिक युग में भी छन्दोबद्ध रूपों का आधिक्य मिलता है, किन्तु वहां विशेषतः यज्ञ सम्बन्धी साहित्य में गद्य का भी प्रयोग हुआ, जैसे–यजुर्वेद और ब्राह्मणों में। लौकिक संस्कृत काल में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोग की ओर इतना अधिक झुकाव है कि यहाँ तक कि वैद्यक ग्रन्थ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता इत्यादि) भी पद्य में ही लिखे गये। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि कोशों की रचना (जैसे–अमरकोश)

भी छन्दों में ही हुई। कुछ आगे चलकर परवर्ती काल में बाण और सुबन्धु ने गद्य काव्यों के लेखन की शैली का विकास किया, जो कि बड़े-बड़े समासों से मिश्रित होने के कारण अत्यन्त कृत्रिम कही जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती काल में सूत्र-रूप में दार्शनिक ग्रंथों को लिखने की प्रणाली का भी प्रचलन हुआ।

आगे चलकर हमें छन्दों की प्रणाली का भी एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वैदिक छन्द जगती, त्रिष्टुभ, अनुष्टुभ तो लौकिक संस्कृत में सर्वथा अनुपलब्ध है। जबकि लौकिक संस्कृत के छन्द वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी आदि वेदों में पूर्णतः अप्राप्य हैं। हां, यह अवश्य सच है कि लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'लोक छन्द वैदिक अनुष्टुभ् छन्द का ही रूप हैं।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की भिन्नताओं की ओर दृष्टिपात करते हुए यह ध्यान देना आवश्यक है कि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं। वेदों में कुछ और अधिक ध्वनियां मिलती हैं, जैसे–कि ळ। अन्य ध्वनि-सिद्धान्त दोनों के समान ही हैं और उनमें कोई भी वैसा अन्तर नहीं दिखायी देता जैसा कि प्राकृत बोलियों में हमें प्राप्त होता है।

अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत की तुलना

19वीं शताब्दी में अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत दोनों पर पश्चिमी विद्वानों की नजर नई-नई पड़ी थी और इन दोनों के गहरे सम्बन्ध का तथ्य उनके सामने जल्दी ही आ गया। उन्होने देखा के अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत के शब्दों में कुछ सरल नियमों के साथ एक से दूसरे को अनुवादित किया जा सकता था। और व्याकरण की दृष्टि से यह दोनों बहुत नजदीक थे। अपनी सन् 1892 में प्रकाशित किताब 'अवस्ताई व्याकरण की संस्कृत से तुलना और अवस्ताई वर्णमाला और उसका लिप्यन्तरण' में भाषावैज्ञानिक और विद्वान एब्राहम जैक्सन ने उदहारण के लिए एक अवस्ताई धार्मिक 'लोक का वैदिक संस्कृत में सीधा अनुवाद किया -

मूल अवस्ताई

तम अमवन्तम यजतम
सूरम दामोहु सविश्तम
मिथ्रम यजाइ जओथ्राब्यो

वैदिक संस्कृत अनुवाद

तम आमवन्तम यजताम
शूरम धामसू शाविष्ठम
मित्राम यजाइ होत्राभ्य:

9

भाषा

भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं और इसके लिये हम वाचिक ध्वनियों का प्रयोग करते हैं।

भाषा, मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह है जिनके द्वारा मन की बात बताई जाती है। किसी भाषा की सभी ध्वनियों के प्रतिनिधि स्वयं एक व्यवस्था में मिलकर एक सम्पूर्ण भाषा की अवधारणा बनाते हैं। व्यक्त नाद की वह समष्टि जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक दूसरे से प्रकट करते हैं। मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिनके द्वारा मन की बात बताई जाती है जैसे– बोली,जबान,वाणी विशेष।

सामान्यत: भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जा सकता है। भाषा आभ्यंतर अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं वह हमारे आभ्यंतर के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास तथा परम्परा से विच्छिन्न है।

इस समय सारे संसार में प्राय: हजारों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं, जो साधारणत: अपने भाषियों को छोड़ और लोगों की समझ में नहीं आतीं। अपने समाज या देश की भाषा तो लोग बचपन से ही अभ्यस्त होने के कारण अच्छी तरह जानते हैं, पर दूसरे देशों या समाजों की भाषा बिना अच्छी तरह सीखे नहीं

आती। भाषाविज्ञान के ज्ञाताओं ने भाषाओं के आर्य, सेमेटिक, हेमेटिक आदि कई वर्ग स्थापित करके उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग शाखाएँ स्थापित की हैं और उन शाखाओं के भी अनेक वर्ग-उपवर्ग बनाकर उनमें बड़ी-बड़ी भाषाओं और उनके प्रांतीय भेदों, उपभाषाओं अथवा बोलियों को रखा है। जैसे–हिंदी भाषा भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषाओं के आर्य वर्ग की भारतीय आर्य शाखा की एक भाषा है, और ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेलखंडी आदि इसकी उप भाषाएँ या बोलियाँ हैं। पास-पास बोली जानेवाली अनेक उप भाषाओं या बोलियों में बहुत कुछ साम्य होता है, और उसी साम्य के आधार पर उनके वर्ग या कुल स्थापित किए जाते हैं। यही बात बड़ी-बड़ी भाषाओं में भी है जिनका पारस्परिक साम्य उतना अधिक तो नहीं, पर फिर भी बहुत कुछ होता है।

संसार की सभी बातों की भाँति भाषा का भी मनुष्य की आदिम अवस्था के अव्यक्त नाद से अब तक बराबर विकास होता आया है, और इसी विकास के कारण भाषाओं में सदा परिवर्तन होता रहता है। भारतीय आर्यों की वैदिक भाषा से संस्कृत और प्राकृतों का, प्राकृतों से अपभ्रंशों का और अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है।

प्रायः भाषा को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिये लिपियों की सहायता लेनी पड़ती है। भाषा और लिपि, भाव व्यक्तीकरण के दो अभिन्न पहलू हैं। एक भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है और दो या अधिक भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। उदाहरणार्थ पंजाबी, गुरूमुखी तथा शाहमुखी दोनो में लिखी जाती है जबकि हिन्दी, मराठी, संस्कृत, नेपाली इत्यादि सभी देवनागरी में लिखी जाती हैं।

परिभाषा

भाषा को प्राचीन काल से ही परिभाषित करने की कोशिश की जाती रही है। इसकी कुछ मुख्य परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

(1) 'भाषा' शब्द संस्कृत के 'भा' धातु से बना है जिसका अर्थ है बोलना या कहना अर्थात् भाषा वह है जिसे बोला जाय।

(2) प्लेटो ने सोफिस्ट में विचार और भाषा के संबंध में लिखते हुए कहा है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अंतर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है और वही शब्द जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।

(3) स्वीट के अनुसार ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।

(4) वेंद्रीय कहते हैं कि भाषा एक तरह का चिह्न है। चिह्न से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपना विचार दूसरों के समक्ष प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं जैसे–नेत्राग्राह्य, श्रोत्र ग्राह्य और स्पर्श ग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्राग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।

(5) ब्लाक तथा ट्रेगर- भाषा यादृच्छिक भाषा प्रतीकों का तंत्र है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह सहयोग करता है।

(6) स्त्रुत्वा - भाषा यादृच्छिक भाष् प्रतीकों का तंत्र है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग एवं संपर्क करते हैं।

(7) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका - भाषा को यादृच्छिक भाष् प्रतिकों का तंत्र है जिसके द्वारा मानव प्राणि एक सामाजिक समूह के सदस्य और सांस्कृतिक साझीदार के रूप में एक सामाजिक समूह के सदस्य संपर्क एवं संप्रेषण करते हैं।

(8) ''भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परम्परा विचारों का आदान-प्रदान करता है।'' स्पष्ट ही इस कथन में भाषा के लिए चार बातों पर ध्यान दिया गया है–

(1) भाषा एक पद्धति है, यानी एक सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित योजना या संघटन है, जिसमें कर्ता, कर्म, क्रिया, आदि व्यवस्थिति रूप में आ सकते हैं।

(2) भाषा संकेतात्मक है अर्थात् इसमे जो ध्वनियाँ उच्चारित होती हैं, उनका किसी वस्तु या कार्य से सम्बन्ध होता है। ये ध्वनियाँ संकेतात्मक या प्रतीकात्मक होती हैं।

(3) भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है, अर्थात् मनुष्य अपनी वागिन्द्रिय की सहायता से संकेतों का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अंतर्गत आते हैं।

(4) भाषा यादृच्छिक संकेत है। यादृच्छिक से तात्पर्य है - ऐच्छिक, अर्थात् किसी भी विशेष ध्वनि का किसी विशेष अर्थ से मौलिक अथवा दार्शनिक सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक भाषा में किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक 'मान लिया जाता' है। फिर वह उसी अर्थ के लिए रूढ़ हो जाता है। कहने का अर्थ यह

है कि वह परम्परानुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा में उस अर्थ का वाचक कोई दूसरा शब्द होगा।

हम व्यवहार में यह देखते हैं कि भाषा का सम्बन्ध एक व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक है। व्यक्ति और समाज के बीच व्यवहार में आने वाली इस परम्परा से अर्जित सम्पत्ति के अनेक रूप हैं। समाज सापेक्षता भाषा के लिए अनिवार्य है, ठीक वैसे ही जैसे–व्यक्ति सापेक्षता। भाषा संकेतात्मक होती है अर्थात् वह एक 'प्रतीक-स्थिति' है। इसकी प्रतीकात्मक गतिविधि के चार प्रमुख संयोजक है: दो व्यक्ति-एक वह जो संबोधित करता है, दूसरा वह जिसे संबोधित किया जाता है, तीसरी संकेतित वस्तु और चौथी-प्रतीकात्मक संवाहक जो संकेतित वस्तु की ओर प्रतिनिधि भंगिमा के साथ संकेत करता है।

विकास की प्रक्रिया में भाषा का दायरा भी बढ़ता जाता है। यही नहीं एक समाज में एक जैसी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों का बोलने का ढंग, उनकी उच्चारण-प्रक्रिया, शब्द-भण्डार, वाक्य-विन्यास आदि अलग-अलग हो जाने से उनकी भाषा में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। इसी को शैली कह सकते हैं।भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य बोलकर, सुनकर, लिखकर व पढ़कर अपने मन के भावों या विचारों का आदान-प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में- जिसके द्वारा हम अपने भावों को लिखित अथवा कथित रूप से दूसरों को समझा सके और दूसरों के भावो को समझ सके उसे भाषा कहते हैं। सार्थक शब्दों के समूह या संकेत को भाषा कहते हैं। यह संकेत स्पष्ट होना चाहिए। मनुष्य के जटिल मनोभावों को भाषा व्यक्त करती है, किन्तु केवल संकेत भाषा नहीं है। रेलगाड़ी का गार्ड हरी झण्डी दिखाकर यह भाव व्यक्त करता है कि गाड़ी अब खुलने वाली है, किन्तु भाषा में इस प्रकार के संकेत का महत्त्व नहीं है। सभी संकेतों को सभी लोग ठीक-ठीक समझ भी नहीं पाते और न इनसे विचार ही सही-सही व्यक्त हो पाते हैं। सारांश यह है कि भाषा को सार्थक और स्पष्ट होना चाहिए।

बोली, विभाषा, भाषा और राजभाषा

यों बोली, विभाषा और भाषा का मौलिक अन्तर बता पाना कठिन है, क्योंकि इसमें प्रमुख अन्तर व्यवहार-क्षेत्र के विस्तार पर निर्भर है। वैयक्तिक विविधता के चलते एक समाज में चलने वाली एक ही भाषा के कई रूप दिखाई देते हैं। मुख्य रूप से भाषा के इन रूपों को हम इस प्रकार देखते हैं-

(1) बोली,
(2) विभाषा, और
(3) भाषा (अर्थात् परिनिष्ठित या आदर्श भाषा)।

बोली और भाषा में अन्तर होता है। यह भाषा की छोटी इकाई है। इसका सम्बन्ध ग्राम या मण्डल अर्थात सीमित क्षेत्र से होता है। इसमें प्रधानता व्यक्तिगत बोलचाल के माध्यम की रहती है और देशज शब्दों तथा घरेलू शब्दावली का बाहुल्य होता है। यह मुख्य रूप से बोलचाल की भाषा है, इसका रूप (लहजा) कुछ-कुछ दूरी पर बदलते पाया जाता है तथा लिपिबद्ध न होने के कारण इसमें साहित्यिक रचनाओं का अभाव रहता है। व्याकरणिक दृष्टि से भी इसमें विसंगतियाँ पायी जाती हैं।

विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है यह एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। एक विभाषा में स्थानीय भेदों के आधार पर कई बोलियाँ प्रचलित रहती हैं। विभाषा में साहित्यिक रचनाऐं मिल सकती हैं।

भाषा, या परिनिष्ठित भाषा अथवा आदर्श भाषा, विभाषा की विकसित स्थिति हैं। इसे राष्ट्र-भाषा या टकसाली-भाषा भी कहा जाता है।

प्राय: देखा जाता है कि विभिन्न विभाषाओं में से कोई एक विभाषा अपने गुण-गौरव, साहित्यिक अभिवृद्धि, जन-सामान्य में अधिक प्रचलन आदि के आधार पर राजकार्य के लिए चुन ली जाती है और उसे राजभाषा के रूप में या राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया जाता है।

राज्यभाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा

किसी प्रदेश की राज्य सरकार के द्वारा उस राज्य के अन्तर्गत प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उसे राज्यभाषा कहते हैं। यह भाषा सम्पूर्ण प्रदेश के अधिकांश जन-समुदाय द्वारा बोली और समझी जाती है। प्रशासनिक दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य में सर्वत्र इस भाषा को महत्त्व प्राप्त रहता है।

भारतीय संविधान में राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए हिन्दी के अतिरिक्त 22 अन्य भाषाएं राजभाषा स्वीकार की गई हैं। राज्यों की विधानसभाएं बहुमत के आधार पर किसी एक भाषा को अथवा चाहें तो एक से अधिक भाषाओं को अपने राज्य की राज्यभाषा घोषित कर सकती हैं।

राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। प्राय: वह अधिकाधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा होती है। प्राय: राष्ट्रभाषा ही किसी देश की राजभाषा होती है।

भाषा के विभिन्न रूप

जीवन के विभिन्न व्यवहारों के अनुरूप भाषिक प्रयोजनों की तलाश हमारे दौर की अपरिहार्यता है। इसका कारण यह है कि भाषाओं को सम्प्रेषणपरक प्रकार्य (फंक्शन) कई स्तरों पर और कई सन्दर्भों में पूरी तरह प्रयुक्ति सापेक्ष होता गया है। प्रयुक्ति और प्रयोजन से रहित भाषा, अब भाषा ही नहीं रह गई है। भाषा की पहचान केवल यही नहीं कि उसमें कविताओं और कहानियों का सृजन कितनी सप्राणता के साथ हुआ है, बल्कि भाषा की व्यापकतर संप्रेषणीयता का एक अनिवार्य प्रतिफल यह भी है कि उसमें सामाजिक सन्दर्भों और नये प्रयोजनों को साकार करने की कितनी सम्भावना है। इधर संसार भर की भाषाओं में यह प्रयोजनीयता धीरे-धीरे विकसित हुई है और रोजी-रोटी का माध्यम बनने की विशिष्टताओं के साथ भाषा का नया आयाम सामने आया है—वर्गाभाषा, तकनीकी भाषा, साहित्यिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा, बोलचाल की भाषा, मानक भाषा आदि।

बोलचाल की भाषा

'बोलचाल की भाषा' को समझने के लिए 'बोली' (Dialect) को समझना जरूरी है। 'बोली' उन सभी लोगों की बोलचाल की भाषा का वह मिश्रित रूप है, जिनकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है। विश्व में जब किसी जन-समूह का महत्त्व किसी भी कारण से बढ़ जाता है तो उसकी बोलचाल की बोली 'भाषा' कही जाने लगती है, अन्यथा वह 'बोली' ही रहती है। स्पष्ट है कि 'भाषा' की अपेक्षा 'बोली' का क्षेत्र, उसके बोलने वालों की संख्या और उसका महत्त्व कम होता है। एक भाषा की कई बोलियाँ होती हैं क्योंकि भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है।जब कई व्यक्ति-बोलियों में पारस्परिक सम्पर्क होता है, तब बालेचाल की भाषा का प्रसार होता है।आपस में मिलती-जुलती बोली या उपभाषाओं में हुई आपसी व्यवहार से बोलचाल की भाषा को विस्तार मिलता है।इसे 'सामान्य भाषा' के नाम से भी जाना जाता है। यह भाषा बड़े पैमाने पर विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती है।

मानक भाषा

भाषा के स्थिर तथा सुनिश्चित रूप को मानक या परिनिष्ठित भाषा कहते हैं। भाषाविज्ञान कोश के अनुसार 'किसी भाषा की उस विभाषा को परिनिष्ठित भाषा कहते हैं जो अन्य विभाषाओं पर अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता स्थापित कर लेती है तथा उन विभाषाओं को बोलने वाले भी उसे सर्वाधिक उपयुक्त समझने लगते हैं।मानक भाषा शिक्षित वर्ग की शिक्षा, पत्राचार एवं व्यवहार की भाषा होती है। इसके व्याकरण तथा उच्चारण की प्रक्रिया लगभग निश्चित होती है। मानक भाषा को टकसाली भाषा भी कहते हैं। इसी भाषा में पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन होता है। हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, संस्कृत तथा ग्रीक इत्यादि मानक भाषाएँ हैं। किसी भाषा के मानक रूप का अर्थ है, उस भाषा का वह रूप जो उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-रचना, शब्द और शब्द-रचना, अर्थ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, प्रयोग तथा लेखन आदि की दृष्टि से, उस भाषा के सभी नहीं तो अधिकांश सुशिक्षित लोगों द्वारा शुद्ध माना जाता है। मानकता अनेकता में एकता की खोज है, अर्थात यदि किसी लेखन या भाषिक इकाई में विकल्प न हो तब तो वही मानक होगा, किन्तु यदि विकल्प हो तो अपवादों की बात छोड़ दें तो कोई एक मानक होता है।जिसका प्रयोग उस भाषा के अधिकांश शिष्ट लोग करते हैं। किसी भाषा का मानक रूप ही प्रतिष्ठित माना जाता है। उस भाषा के लगभग समूचे क्षेत्र में मानक भाषा का प्रयोग होता है।मानक भाषा एक प्रकार से सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक होती है। उसका सम्बन्ध भाषा की संरचना से न होकर सामाजिक स्वीकृति से होता है। मानक भाषा को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि समाज में एक वर्ग मानक होता है, जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है तथा समाज में उसी का बोलना-लिखना, उसी का खाना-पीना, उसी के रीति-रिवाज अनुकरणीय माने जाते हैं। मानक भाषा मूलतः उसी वर्ग की भाषा होती है।

सम्पर्क भाषा

अनेक भाषाओं के अस्तित्त्व के बावजूद जिस विशिष्ट भाषा के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति, राज्य-राज्य तथा देश-विदेश के बीच सम्पर्क स्थापित किया जाता है उसे सम्पर्क भाषा कहते हैं। एक ही भाषा परिपूरक भाषा और सम्पर्क भाषा दोनों ही हो सकती है। आज भारत मे सम्पर्क भाषा के तौर पर हिन्दी प्रतिष्ठित होती जा रही है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी सम्पर्क भाषा के

रूप में प्रतिष्ठित हो गई है।सम्पर्क भाषा के रूप में जब भी किसी भाषा को देश की राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा के पद पर आसीन किया जाता है तब उस भाषा से कुछ अपेक्षाएँ भी रखी जाती हैं। जब कोई भाषा 'lingua franca' के रूप में उभरती है तब राष्ट्रीयता या राष्ट्रता से प्रेरित होकर वह प्रभुतासम्पन्न भाषा बन जाती है। यह तो जरूरी नहीं कि मातृभाषा के रूप में इसके बोलने वालों की संख्या अधिक हो पर द्वितीय भाषा के रूप में इसके बोलने वाले बहुसंख्यक होते हैं।

राजभाषा

जिस भाषा में सरकार के कार्यों का निष्पादन होता है, उसे राजभाषा कहते हैं। कुछ लोग राष्ट्रभाषा और राजभाषा में अन्तर नहीं करते और दोनों को समानार्थी मानते हैं। लेकिन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। राष्ट्रभाषा सारे राष्ट्र के लोगों की सम्पर्क भाषा होती है जबकि राजभाषा केवल सरकार के कामकाज की भाषा है।भारत के संविधान के अनुसार हिन्दी संघ सरकार की राजभाषा है। राज्य सरकार की अपनी-अपनी राज्य भाषाएँ हैं। राजभाषा जनता और सरकार के बीच एक सेतु का कार्य करती है। किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र की उसकी अपनी स्थानीय राजभाषा उसके लिए राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान का प्रतीक होती है।विश्व के अधिकांश राष्ट्रों की अपनी स्थानीय भाषाएँ राजभाषा हैं। आज हिन्दी हमारी राजभाषा है।

राष्ट्रभाषा

देश के विभिन्न भाषा-भाषियों में पारस्परिक विचार-विनिमय की भाषा को राष्ट्रभाषा कहते हैं। राष्ट्रभाषा को देश के अधिकतर नागरिक समझते हैं, पढ़ते हैं या बोलते हैं।किसी भी देश की राष्ट्रभाषा उस देश के नागरिकों के लिए गौरव, एकता, अखंडता और अस्मिता का प्रतीक होती है। महात्मा गाँधी ने राष्ट्रभाषा को राष्ट्र की आत्मा की संज्ञा दी है। एक भाषा कई देशों की राष्ट्रभाषा भी हो सकती है, जैसे-अंग्रेजी आज अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा कनाडा इत्यादि कई देशों की राष्ट्रभाषा है। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो नहीं दिया गया हैं, लेकिन इसकी व्यापकता को देखते हुए इसे राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में राजभाषा के रूप में हिन्दी, अंग्रेजी की तरह न केवल प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा है, बल्कि उसकी भूमिका राष्ट्रभाषा के रूप में भी है।। वह हमारी

सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता की भाषा है। महात्मा गाँधी जी के अनुसार किसी देश की राष्ट्रभाषा वही हो सकती है, जो सरकारी कर्मचारियों के लिए सहज और सुगम हो, जिसको बोलने वाले बहुसंख्यक हों और जो पूरे देश के लिए सहज रूप में उपलब्ध हो। उनके अनुसार भारत जैसे–बहुभाषी देश में हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के निर्धारित अभिलक्षणों से युक्त है। उपर्युक्त सभी भाषाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। इसलिए यह प्रश्न निरर्थक है कि राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा आदि में से कौन सर्वाधिक महत्त्व का है, जरूरत है हिन्दी को अधिक व्यवहार में लाने की।

भाषा की परिभाषा

डॉ. कामता प्रसाद गुरु–'भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों तक भलीभाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्पष्टतया समझ सकता है।'

आचार्य किशोरीदास–'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्दसमूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।''

डॉ. श्यामसुन्दर दास–'मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।'

डॉ. बाबूराम सक्सेना–'जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।'

डॉ. भोलानाथ–'भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह संचरनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज-विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।'

रवीन्द्रनाथ–'भाषा वागेन्द्रिय द्वारा निःस्तृत उन ध्वनि प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था है, जो अपनी मूल प्रकृति में यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक होते हैं और जिनके द्वारा किसी भाषा-समुदाय के व्यक्ति अपने अनुभवों को व्यक्त करते हैं, अपने विचारों को संप्रेषित करते हैं और अपनी सामाजिक अस्मिता, पद तथा अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों को सूचित करते हैं।'

महर्षि पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी महाभाष्य में भाषा की परिभाषा करते हुए कहा है- "व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः।" जो वाणी से

व्यक्त हो उसे भाषा की संज्ञा दी जाती है। दुनीचंद ने अपनी पुस्तक "हिन्दी व्याकरण" में भाषा की परिभाषा करते हुए लिखा है – "हम अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए जिन सांकेतिक ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उन्हें भाषा कहते हैं।"

डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है – "भाषा मुख से उच्चरित उस परम्परागत सार्थक एवं व्यक्त ध्वनि संकेतों की व्यक्ति को कहते हैं, जिसकी सहायता से मानव आपस में विचार एवं भावों को आदान-प्रदान करते हैं तथा जिसको वे स्वेच्छानुसार अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करते हैं।"

डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल के अनुसार – "भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिससे मानव समाज में अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक-दूसरे को सहयोग देता है।"

श्री नलिनि मोहन सन्याल का कथन है – "अपने स्वर को विविध प्रकार से संयुक्त तथा विन्यस्त करने से उसके जो-जो आकार होते हैं उनका संकेतों के सदृश व्यवहार कर अपनी चिन्ताओं को तथा मनोभावों को जिस साधन से हम प्रकाशित करते हैं, उस साधन को भाषा कहते हैं।"

डॉ. देवीशंकर द्विवेदी के मतानुसार – "भाषा यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।"

प्लेटो ने विचार तथा भाषा पर अपने भाव व्यक्त करते हुए लिखा है-विचार आत्मा की मूक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।'

मैक्समूलर के अनुसार-"भाषा और कुछ नहीं है केवल मानव की चतुर बुद्धि द्वारा अविष्कृत ऐसा उपाय है जिसकी मदद से हम अपने विचार सरलता और तत्परता से दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और चाहते हैं कि इसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में नहीं बल्कि मनुष्य कृत पदार्थ के रूप में करना उचित है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि- ''मुख से उच्चरित ऐसे परम्परागत, सार्थक एवं व्यक्त ध्वनि संकेतों की समष्टि ही भाषा है, जिनकी सहायता से हम आपस में अपने विचारों एवं भावों का आदान-प्रदान करते हैं।''

भाषा के भेद

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अत: समाज में रहते हुए सदा विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। सामान्य रूप में भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों को भाषा की संज्ञा दी जाती है। भावाभिव्यक्ति संदर्भ में हम अनेक माध्यमों को सहारा लेते हैं, यथा - स्पर्श कर, चुटकी बजाकर, आँख घुमा या दबाकर, उँगली को आधार बनाकर, गहरी साँस छोड़कर, मुख के विभिन्न अंगों के सहयोग से ध्वनि उच्चारण कर आदि। भाषा की स्पष्टता के ध्यान में रखकर उसके वर्ग बना सकते हैं –

मूक भाषा - भाषा की ध्वनि रहित स्थिति में ही ऐसी भावभिव्यक्ति होती है। इसे भाषा का अव्यक्त रूप भी कहा जा सकता है। संकेत, चिह्न, स्पर्श आदि भावाभिव्यक्ति के माध्यम इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। पुष्प की भाषा भी मूक है।

अस्पष्ट भाषा - जब व्यक्त भाषा का पूर्ण या स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है, तो उसे अस्पष्ट कहते हैं, यथा - चिड़ियाँ प्रात: काल से अपना गीत शुरू कर देती है, किन्तु उनके गीत का स्पष्ट ज्ञान सामान्य व्यक्ति नहीं कर पाता है। इस प्रकार पक्षियों का गीत मानव के लिए अस्पष्ट भाषा है।

स्पष्ट भाषा - जब भावाभिव्यक्ति पूर्ण स्पष्ट हो, तो ऐसी व्यक्त भाषा को स्पष्ट कहते हैं। जब मनुष्य मुख अवयवों के माध्यम से अर्थमयी या यादृच्छिक ध्वनि-समष्टि का प्रयोग करता है, तो ऐसी भाषा का रूप सामने आता है। यह भाषा मानव-व्यवहार और उसकी उन्नति में सर्वाधिक सहयोगी है।

स्पर्श भाषा :– इसमें विचारों की अभिव्यक्ति शरीर के एक अथवा अधिक अंगों के स्पर्श-माध्यम से होती है। इसमें भाषा के प्रयोगकर्ता और ग्रहणकर्ता में निकटता आवश्यक होती है।

इंगित भाषा :– इसे आंगिक भाषा भी कहते हैं। इसमें विचारों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के संकेतों के माध्यम से होती है, यथा - हरी झंडी या हरी बत्ती मार्ग साफ या आगे बढ़ाने का संकेत है या बत्ती मार्ग अवरुद्ध होने या रुकने का संकेत है।

वाचिक भाषा :– इसके लिए 'मौखिक' शब्द का भी प्रयोग होता है। ऐसी भाषा में ध्वनि-संकेत भावाभिव्यक्ति के मुख्य साधन होते हैं। इसमें विचार-विनिमय हेतु मुख के विभिन्न अवयवों का सहयोग लिया जाता है, अर्थात इसमें भावाभिव्यक्ति बोलकर की जाती है। यह सर्वाधिक प्रयुक्त भाषा है।

सामान्यत: इस भाषा का प्रयोग सामने बैठे हुए व्यक्ति के साथ होता है। यंत्रा-आधारित दूरभाष (टेलीफोन), वायरलेस आदि की भाषा भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है। भाषा के सूक्ष्म विभाजन में इसे यात्रिक या यंत्र-आधारित भाषा के भिन्न वर्ग में रख सकते हैं।

लिखित भाषा - भावाभिव्यक्ति का सर्वोत्त माध्यम लिखित भाषा है, इसमें अपने विचार का विनिमय लिखकर अर्थात् मुख्यत: लिपि का सहारा लेकर किया जाता है। इस भाषा में लिपि के आधार पर समय तथा स्थान की सीमा पर करने की शक्ति होती है। एक समय लिपिबद्ध किया गया विचार शताब्दियों बाद पढ़ कर समझा जा सकता है और कोई भी लिपिबद्ध विचार या संदेश देश-विदेश के किसी भी स्थान को भेजा जा सकता है। किसी भी समाज की उन्नति मुख्यत: वहाँ की भाषा-उन्नति पर निर्भर होती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उन्नत देश की भाषा भी उन्नत होती है। इसके साथ भाषा को मानवीय सभ्यता का उत्कर्ष आधार माना गया है। काव्यदर्श में वाणी (भाषा) को जीवन का मुख्याधार बताते हुए कहा गया है - "वाचामेय प्रसादेन लोक यात्र प्रवर्तते।"

भाषा की प्रवृत्ति

भाषा के सहज गुण-धर्म को भाषा के अभिलक्षण या उसकी प्रकृति कहते हैं। इसे ही भाषा की विशेषताएँ भी कहते हैं। भाषा-अभिलक्षण को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। भाषा का प्रथम अभिलक्षण वह है, जो सभी भाषाओं के लिए मान्य होता है, इसे भाषा का सर्वमान्य अभिलक्षण कह सकते हैं। द्वितीय अभिलक्षण वह है, जो भाषा विशेष में पाया जाता है। इससे एक भाषा से दूसरी भाषा की भिन्नता स्पष्टता होती है। हम इसे विशिष्ट भाषागत अभिलक्षण भी कह सकते हैं। यहाँ मुख्यत: ऐसे अभिलक्षणों के विषय में विचार किया जा रहा है, जो विश्व की समस्त भाषाओं में पाये जाते हैं:-

भाषा सामाजिक सम्पत्ति है - सामाजिक व्यवहार भाषा का मुख्य उद्देश्य है। हम भाषा के सहारे अकेले में सोचते या चिन्तन करते हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीरों पर आधारित भाषा से भिन्न होती है। भाषा अद्योपांत समाज से संबंधित होती है। भाषा का विकास समाज में हुआ, उसका अर्जन समाज में होता है और उसका प्रयोग भी समाज में ही होता है। यह तथ्य दृष्टव्य है कि बच्चा जिस समाज में पैदा होता है तथा पलता है, वह उसी समाज की भाषा सीखता है।

भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है – कुछ लोगों का कथन है कि पुत्र को पैतृक सम्पत्ति (घर, धन, बाग आदि) के समान भाषा भी प्राप्त होती है। अतः भाषा पैतृक सम्पत्ति है, किन्तु यह सत्य नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष अवस्था (शिशु-काल) में किन्हीं विदेशी भाषा-भाषी लोगों के साथ कर दिया जाये, तो वह उनकी ही भाषा बोलेगा। यदि भाषा पैतक सम्पत्ति होती, तो वह बालक बोलने के योग्य होने पर अपने माता-पिता की ही भाषा बोलता।

भाषा व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है: भाषा सामाजिक सम्पत्ति है। भाषा का निर्माण भी समाज के द्वारा होता है। महान साहित्यकार या भाषा-प्रेमी भाषा में कुछ एक शब्दों को जोड़ या उसमें से कुछ एक शब्दों को घटा सकता है इससे स्पष्ट होता है कि कोई साहित्यकार या भाषा-प्रेमी भाषा का निर्माता नहीं हो सकता है। भाषा में होने वाला परिवर्तन भी व्यक्तिकृत न होकर समाजकृत होता है।

भाषा अर्जित सम्पत्ति है – भाषा परम्परा से प्राप्त सम्पत्ति है, किन्तु यह पैतृक सम्पत्ति की भांति नहीं प्राप्त होती है। मनुष्य को भाषा सीखने के लिए प्रयास करना पड़ता है। सामाजिक व्यवहार भाषा सीखने में मार्ग-दर्शन के रूप में कार्य करता है, किन्तु मनुष्य को प्रयास के साथ उसका अनुकरण करना होता है। मनुष्य अपनी मातृभाषा के समान प्रयोगार्थ अन्य भाषाओं को भी प्रयत्न कर सीख सकता है। इसे स्पष्ट होता है, भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

भाषा व्यवहार अनुकरण द्वारा अर्जित की जाती है – शिशु बौद्धिक विकास के साथ अपने आस-पास के लोगों की ध्वनियों को अनुकरण के आधार पर उन्ही के समान प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। प्रारम्भ में वह या, मा, बा आदि ध्वनियों का अनुकरण करता है फिर सामान्य शब्दों को अपना लेता है। यह अनुकरण तभी सम्भव होता है जब उसे सीखने योग्य व्यवहारिक वातावरण प्राप्त हो। वैसे व्याकरण, कोश आदि से भी भाषा सीखी जा सकती है, किन्तु यह सब व्यवहारिक आधार पर सीखी गई भाषा के बाद ही सम्भव है। यदि किसी शिशु को निर्जन स्थान पर छोड़ दिए जाए तो वह बोल भी नहीं पाएगा, क्योंकि व्यवहार के अभाव में उसे भाषा का ज्ञान नहीं हो पाएगा।

भाषा सामाजिक स्तर पर आधारित होती है – भाषा का सामाजिक स्तर पर भेद हो जाता है। विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त किसी भी भाषा की आपसी भिन्नता देख सकते हैं। सामान्य रूप में सभी हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों की हिन्दी में भिन्नता होती है। यह भिन्नता उनके

शैक्षिक, आर्थिक, धार्मिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक आदि स्तरों के कारण होती है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र की अपनी शब्दावली होती है जिसके कारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। शिक्षित व्यक्ति जितना सतर्क रहकर भाषा का प्रयोग करता है सामान्य अथवा अशिक्षित व्यक्ति उतनी सतर्कता से भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता है। यह स्तरीय तथ्य किसी भी भाषा के विभिन्न कालों के भाषा-प्रयोग से भी अनुभव कर सकते हैं।

भाषा सर्वव्यापक है - यह सर्वमान्य तथ्य है कि विश्व के समस्त कार्यों का सम्पादन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाषा के ही माध्यम से होता है। समस्त ज्ञान भाषा पर आधारित है। व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध या व्यक्ति-समाज का संबंध भाषा के अभाव में असम्भव है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है - "न सोस्ति प्रत्ययों लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सवं शब्देन भासते।" वाक्यपदीय 123.24 मनुष्य के मनन-चिन्तन तथा भावाव्यक्ति का मूल माध्यम भाषा है, यह भी भाषा की सर्वव्यापकता का प्रबल-प्रमाण है।

भाषा सतत प्रवाहमयी है - मनुष्य के साथ भाषा सतत गतिशीली अवस्था में विद्यमान रहती है। भाषा की उपमा प्रवाहमान जलस्रोत-नदी से दी जा सकती है, जो पर्व से निकल कर समुद्र तक लगातार बढ़ती रहती है, अपने मार्ग में वह कहीं सूखती नहीं है। समाज के साथ भाषा का आरम्भ हुआ और आज तक गतिशील है। मानव समाज जब तक रहेगा तब तक भाषा का स्थायित्व पूर्ण निश्चित है किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा उसमें परिवर्तन किया जा सकता है, किन्तु उसे समाप्त करने की किसी में शक्ति नहीं होती है।

भाषा सम्प्रेषण मूलतः वाचिक है - भाव सम्प्रेषण सांकेतिक, आंगिक, लिखित और यांत्रिक आदि अनेक रूपों में होता है, किन्तु इनकी कुछ सीमाएं हैं अर्थात् इन माध्यमों के द्वारा पूर्ण भावाभिव्यक्ति सम्भव नहीं। स्पर्श तथा संकेत भाषा तो स्पष्ट रूप में अपूर्ण है, साथ ही लिखित भाषा से भी पूर्ण भावाभिव्यक्ति सम्भव नहीं। वाचिक भाषा में आरोह-अवरोह तथा विभिन्न भाव-भंगिमाओं के कारण पूर्ण सशक्त भावाभिव्यक्ति सम्भव होती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण पूर्ण सशक्त भावाभिव्यक्ति सम्भव होती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वाचिक भाषा को सजीव तथा लिखित तथा अन्य भाषाओं को निर्जीव भाषा कह सकते हैं। वाचिक भाषा का प्रयोग भी सर्वाधिक रूप में होता है। अनेक अनपढ़ व्यक्ति भी ऐसी भाषा का सहज, स्वाभाविक तथा आकर्षक प्रयोग करते हैं।

भाषा चिरपरिवर्तनशील है – संसार की सभी वस्तुओं के समान भाषा भी परिवर्तनशील है। किसी भी देश के एक काल की भाषा परवर्ती काल में पूर्वत् नहीं रह सकती, उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। यह परिवर्तन अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण होता है। संस्कृत में 'साहस' का अर्थ अनुचित या अनैतिक कार्य के लिए उत्साह दिखाना था, तो हिन्दी में यह शब्द अच्छे कार्य के लिए उत्साह दिखाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषा अनुकरण के माध्यम में सीखी जाती है। मूल-भाषा (वाचक-भाषा) का पूर्ण अनुकरण सम्भव नहीं है। इसके कारण हैं- अनुकरण की अपूर्णता, शारीरिक तथा मानसिक रचना की भिन्नता एवं भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता। इस प्रकार भाषा प्रतिफल परिवर्तित होती रहती है।

भाषा का प्रारम्भिक रूप उच्चरित होता है: भाषा के दो रूप मुख्य हैं – मौखिक तथा लिखित। इनमें भाषा का प्रारम्भिक रूप मौखिक ही होता है। लिपि का विकास तो भाषा जन्म के पर्याप्त समय बाद में होता है। लिखित भाषा में ध्वनियों का ही अंकन किया जाता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ध्वन्यात्मक भाषा के अभाव में लिपि की कल्पना भी असम्भव है। उच्चरित भाषा के लिए लिपि आवश्यक माध्यम नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी ऐसे अनगिनत व्यक्ति मिल जाएँगे जो उच्चरित भाषा का सुन्दर प्रयोग करते हैं, किन्तु उन्हें लिपि का ज्ञान होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा का प्रारम्भिक रूप उच्चरित या मौखिक है और उसका परवर्ती विकसित रूप लिखित है।

भाषा का आरम्भ वाक्य से हुआ है – सामान्यत: भाव या विचार पूर्णता के द्योतक होते हैं। पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति सार्थक, स्वतंत्र और पूर्ण अर्थवान इकाई-वाक्य से ही सम्भव है। कभी-कभी तो एक शब्द से भी पूर्ण अर्थ का बोध होता है, यथा- 'जाओ' आदि। वास्तव में ये शब्द न होकर वाक्य के एक विशेष रूप में प्रयुक्त हैं। ऐसे वाक्यों में वाक्यांश छिपा होता है। यहाँ पर वाक्य का उद्देश्य-अंश 'तुम' छिपा हुआ है। श्रोता ऐसे वाक्यों को सुनकर व्याकरणिक ढंग से उसकी पूर्ति कर लेता है। इस प्रकार ये वाक्य बन जाते हैं – 'तुम जाओ।' 'तुम आओ' बच्चा एक ध्वनि या वर्ण के माध्यम से भाव प्रकट करता है। बच्चे की ध्वनि भावात्मक दृष्टि से संबंधित होने के कारण एक सीमा में पूर्णवाक्य के प्रतीक में होती है, यथा – 'प' से भाव निकलता है-मुझे प्यास लगी है या मुझे दूध दे दो या मुझे पानी दे दो। यहाँ 'खग जाने खग ही की भाषा' का

सिद्धान्त अवश्य लागू होता है। जिसके हृदय में ममता और वात्सल्य का भाव होगा या जग सकेगा वह ही ऐसे वाक्यों की अर्थ-अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकेगा।

भाषा मानकीकरण पर आधारित होती है - भाषा परिवर्तनशील है, यही कारण है कि एक ही भाषा एक युग के पश्चात् दूसरे युग में पहुँचकर पर्याप्त भिन्न हो जाती है। इस प्रकार परिवर्तन के कारण भाषा में विविधता आ जाती है। यदि भाषा-परिवर्तन पर बिल्कुल ही नियंत्राण न रखा जाए तो तीव्रगति के परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों में भाषा का रूप अबोध्य बन जाएगा। भाषा परिवर्तन पूर्णरूप से रोका तो नहीं जा सकता, किन्तु भाषा में बोधगम्यता बनाए रखने के लिए उसके परिवर्तन-क्रम का स्थिरीकरण आवश्यक होता है। इस प्रकार की स्थिरता से भाषा का मानकीकरण हो जाता है।

भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर बढ़ती है - विभिन्न भाषाओं के प्राचीन, मध्ययुगीन तथा वर्तमान रूपों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट है कि भाषा का प्रारम्भिक रूप संयोगावस्था में होता है। इसे संश्लेषावस्था भी कहते हैं। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आता है और वियोगावस्था या विश्लेषणावस्था आ जाती है। भाषा की संयोगावस्था में वाक्य के विभिन्न अवयव आपस में मिले हुए लिखे-बोले जाते हैं। परवर्ती अवस्था में यह संयोगवस्था धीरे-धीरे शिथिल होती जाती है, यथा - "रमेशस्य पुत्रारू गृहं गच्छति। रमेश का पुत्र घर जाता है। 'रमेशस्य' तथा 'गच्छति' संयोगवस्था में प्रयुक्त हैं।

भाषा का अन्तिम रूप नहीं है - वस्तु बनते-बनते एक अवस्था में पूर्ण हो जाती है, तो उसका अन्तिम रूप निश्चित हो जाता है। भाषा के विषय में यह बात सत्य नहीं है। भाषा चिरपरिवर्तशील है। इसलिए किसी भी भाषा का अन्तिम रूप ढूँढ़ना निरर्थक है और उसका अन्तिम रूप प्राप्त कर पाना असम्भव है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यह प्रकृति जीवित भाषा के संदर्भ में ही मिलती है।

भाषा का प्रवाह कठिनता से सरलता की ओर होता है - विभिन्न भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भाषा का प्रवाह कठिनता से सरलता की ओर होता है। मनुष्य स्वभावतः अल्प परिश्रम से अधिक कार्य करना चाहता है।

भाषा नैसिर्गिक क्रिया है - मातृभाषा सहज रूप में अनुकरण के माध्यम से सीखी जाती है। अन्य भाषाएँ भी बौद्धिक प्रयत्न से सीखी जाती है। दोनों प्रकार की भाषाओं के सीखने में अन्तर यह है कि मातृभाषा तब सीखी जाती है जब

बुद्धि अविकसित होती है, अर्थात् बुद्धि विकास के साथ मातृभाषा सीखी जाती है। इससे ही इस संदर्भ में होनेवाले परिश्रम का ज्ञान नहीं होता है। जब हम अन्य भाषा सीखते हैं, तो बुद्धि-विकसित होने के कारण ज्ञान-अनुभव होता है। कोई भी भाषा सीख लेने के बाद उसका प्रयोग बिना किसी कठिनाई के किया जा सकता है। जिस प्रकार शारीरिक चेष्टाएँ स्वाभाविक रूप से होती हैं ठीक उसी प्रकार भाषा-ज्ञान के पश्चात् उसकी भी प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप में होता है।

प्रत्येक भाषा की निश्चित सीमाएँ होती है - प्रत्येक भाषा की अपनी भौगोलिक सीमा होती है अर्थात् एक निश्चित दूरी तक एक भाषा का प्रयोग होता है। भाषा-प्रयोग के विषय में यह कहावत प्रचलित है-"चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।" एक भाषा से अन्य भाषा की भिन्नता कम या अधिक हो सकती है, किन्तु भिन्नता होती अवश्य है। एक निश्चित सीमा के पश्चात् दूसरी भाषा की भौगालिक सीमा प्रारम्भ हो जाती है, यथा - असमी भाषा असम सीमा तक प्रयुक्त होती है, उसके बाद बांग्ल की सीमा शुरू हो जाती है। प्रत्येक भाषा की अपनी ऐतिहासिक सीमा होती है। एक निश्चित समय तक एक भाषा प्रयुक्त होती है, उससे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषा उससे भिन्न होती है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी निश्चित-प्रयोग समय से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है।

भाषा का माध्यम

अभिव्यक्ति का माध्यम

अपने भावों को अभिव्यक्त करके दूसरे तक पहुँचाने हेतु भाषा का उद्‌भव हुआ। भाषा के माध्यम से हम न केवल अपने, भावों, विचारों, इच्छाओं और आकांक्षाओं को दूसरे पर प्रकट करते हैं, अपितु दूसरों द्वारा व्यक्त भावों, विचारों और इच्छाओं को ग्रहण भी करते हैं। इस प्रकार वक्ता और श्रोता के बीच अभिव्यक्ति के माध्यम से मानवीय व्यापार चलते रहते हैं। इसलिए सुनना और सुनाना अथवा जानना और जताना भाषा के मूलभूत कौशल हैं, जो सम्प्रेषण के मूलभूत साधन हैं। अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा के अन्यतम कौशल हैं, पढ़ना और लिखना जो विधिवत् शिक्षा के माध्यम से विकसित होते हैं।

चिन्तन का माध्यम

विद्यार्भी बहुत कुछ सुने, बोले या लिखें-पढ़े, इतना पर्याप्त नहीं है, अपितु यह बहुत आवश्यक है कि वे जो कुछ पढ़े और सुनें, उसके आधार पर स्वयं चिन्तन-मनन करें। भाषा विचारों का मूल-स्रोत है। भाषा के बिना विचारों का कोई अस्तित्त्व नहीं है और विचारों के बिना भाषा का कोई महत्त्व नहीं। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि ''बुद्धि के साथ आत्मा वस्तुओं को देखकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है। मन शारीरिक शक्ति पर दबाव डालता है जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है। वायु फेफड़ों में चलती हुई कोमल ध्वनि को उत्पन्न करती है, फिर बाहर की और जाकर और मुख के ऊपरी भाग से अवरुद्ध होकर वायु मुख में पहुँचती है और विभिन्न ध्वनियों को उत्पन्न करती है। ''अत: वाणी के उत्पन्न के लिए चेतना, बुद्धि, मन और शारीरिक अवयव, ये चारों अंग आवश्यक हैं। अगर इन चारों में से किसी के पास एक या एकाधिक का अभाव हो तो वह भाषाहीन हो जाता है।

संस्कृति का माध्यम

भाषा और संस्कृति दोनों परम्परा से प्राप्त होती हैं। अत: दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध रहा है। जहाँ समाज के क्रिया-कलापों से संस्कृति का निर्माण होता है, वहाँ सास्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए भाषा का ही आधार लिया जाता है। पौराणिक एवं साहसिक कहानियाँ, पर्व-त्यौहार, मेला-महोत्सव, लोक-कथाएँ, ग्रामीण एवं शहरी जीवन-शैली, प्रकृति-पर्यावरण, कवि-कलाकारों की रचनाएँ, महान विभूतियों की कार्यावली, राष्ट्रप्रेम, समन्वय-भावना आदि सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। दरअसल, किसी भी क्षेत्र विशेष के मानव समुदाय को परखने के लिए उसकी भाषा को समझना आवश्यक है। किसी निर्दिष्ट गोष्ठी के ऐतिहासिक उद्‌भव तथा जीवन-शैली की जानकारी प्रात्प करने हेतु उसकी भाषा का अध्ययन जरूरी है। संपृक्त जन-समुदाय के चाल-ढाल, रहन-सहन, वेशभूषा ही नहीं, अपितु उसकी सच्चाई, स्वच्छता, शिष्टाचार, सेवा-भाव, साहस, उदारता, निष्ठा, श्रमशीलता, सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, कर्त्तव्यपरायणता आदि उसकी भाषा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाते हैं।

साहित्य का माध्यम

भाषा साहित्य का आधार है। भाषा के माध्यम से ही साहित्य अभिव्यक्ति पाता है। किसी भी भाषा के बोलनेवालों जन-समुदाय के रहन-सहन, आचार-विचार

आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाला उस भाषा का साहित्य होता है। साहित्य के जरिए हमें उस निर्दिष्ट समाज के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का परिचय मिलता है। केवल समकालीन जीवन का ही नहीं, बल्कि साहित्य हमें अपने अतीत से उसे जोड़कर एक विकासशील मानव-सभ्यता का पूर्ण परिचय देता है। साथ ही साहित्य के अध्ययन से एक उन्नत एवं उदात्त विचार को पनपने का अवसर मिलता है तो उससे हम अपने मानवीय जीवन को उन्नत बनाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। अतः भाषा का साहित्यिक रूप हमारे बौद्धिक एवं भावात्मक विकास में सहायक होता है और साहित्य की यह अनमोल सम्पत्ति भाषा के माध्यम से ही हम तक पहुँच पाती है। उत्तम साहित्य समृद्ध तथा उन्नत भाषा की पहचान है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त होने के बाद इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि भाषा विज्ञान निश्चित शब्दों में परिभाषाबद्ध किया जाए तथा साथ ही विभिन्न विद्वानों ने इसकी क्या-क्या परिभाषा की हैं, उनका भी अवलोकन कर लिया जाए।

भाषा विज्ञान की परिभाषा

डॉ. श्याम सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ भाषा रहस्य में लिखा है- "भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसकेविकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"

मंगल देव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्रा) के शब्दों में-"भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें (क) सामान्य रूप से मानवीय भाषा (ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः (ख) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।"

डॉ. भोलानाथ के 'भाषा-विज्ञान' ग्रन्थ में यह परिभाषा इस प्रकार दी गई है-"जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषा विज्ञान कहते हैं।"

ऊपर दी गई सभी परिभाषाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। डॉ. श्यामसुन्दरेदास की परिभाषा में जहाँ केवल

भाषाविज्ञान पर ही दृष्टि केन्द्रित रही है वहाँ मंगलदेव शास्त्री एवं भोलानाथ तिवारी ने अपनी परिभाषाओं में भाषा विज्ञान के अध्ययन के प्रकारों को भी समाहित कर लिया है।परिभाषा वह अच्छी होती है, जो संक्षिप्त हो और स्पष्ट हो। इस प्रकार हम भाषा-विज्ञान की एक नवीन परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं- "जिस अध्ययन के द्वारा मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए,उसे भाषा-विज्ञान कहा जाता है।"

दूसरे शब्दों में भाषा-विज्ञान वह है जिसमें मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और व्यापक वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

भाषा विज्ञान का क्षेत्र

मानव की भाषा का जो क्षेत्र है वही भाषा-विज्ञान का क्षेत्र है। संसारभर के सभ्य-असभ्य मनुष्यों की भाषाओं और बोलियों का अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान केवल सभ्य-साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं करता अपितु असभ्य-बर्बर-असाहित्यिक बोलियों का, जो प्रचलन में नहीं है, अतीत के गर्व में खोई हुई हैं उन भाषाओं का भी अध्ययन इसके अन्तर्गत होता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभाग

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत भाषा से सम्बन्धित अध्ययन आते हैं-

वाक्य-विज्ञान - भाषा में सारा विचार-विनिमय वाक्यों के आधार पर किया जाता है। भाषा-विज्ञान के जिस विभाग में इस पर विचार किया जाता है उसे वाक्य-विचार या वाक्य-विज्ञान कहते हैं। इसके तीन रूप हैं- (1) वर्णनात्मक, (2) ऐतिहासक वाक्य-विज्ञान तथा (3) तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान। वाक्य-रचना का सम्बंध बोलनेवाले समाज के मनोविज्ञान से होता है। इसलिए भाषा-विज्ञान की यह शाखा बहुत कठिन है।

रूप-विज्ञान - वाक्य की रचना पदों या रूपों के आधार पर होती है। अतः वाक्य के बाद पद या रूप का विचार महत्त्वपूर्ण हो जाता है। रूप-विज्ञान के अन्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है जिनसे रूप बनते हैं।

शब्द-विज्ञान - रूप या पद का आधार शब्द है। शब्दों पर रचना या इतिहास इन दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। किसी व्यक्ति या भाषा

का विचार भी इसके अन्तर्गत किया जाता है। कोश-निर्माण तथा व्युत्पत्ति-शास्त्राशब्द-विज्ञान के ही विचार-क्षेत्र की सीमा में आते हैं। भाषा के शब्द समूह के आधार पर बोलने वाले का सांस्कृतिक इतिहास जाना जा सकता है।

ध्वनि-विज्ञान - शब्द का आधार है ध्वनि। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लाभ

अपनी चिर-परिचित भाषा के विषय में जिज्ञासा की तृप्ति या शंकाओं का निर्मूलन।

ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय।

किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का परिचय।

प्राचीन साहित्य का अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान।

विश्व के लिए एक भाषा का विकास।

विदेशी भाषाओं को सीखने में सहायता।

अनुवाद करने वाली तथा स्वयं टाइप करने वाली एवं इसी प्रकार की मशीनों के विकास और निर्माण में सहायता।

भाषा, लिपि आदि में सरलता, शुद्धता आदि की दृष्टि से परिवर्तन-परिवर्द्धन में सहायता।

निष्कर्षत: इन सभी लाभों की दृष्टि से आज के युग में भाषा-विज्ञान को एक अत्यन्त उपयोगी विषय माना जा रहा है और उसके अध्ययन के क्षेत्र में नित्य नवीन विकास हो रहा है।

भाषा की उत्पति

भाषा की उत्पत्ति से दो बातें पाता चलता है। (1) ध्वनि अर्थात् बोलने की शक्ति से (2) उच्चारित ध्वनि तथा अर्थ संयोग से। जहाँ तक ध्वनि (ध्वनि उत्पन्न करने) का प्रश्न है, अनगिनत पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है, जैसे- कुत्ता भौं-भौं करता है, बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ, कोयल कू-कू। इस ध्वनि में सार्थकता का अभाव है, इसलिए यह उस अर्थ में भाषा नहीं है, जो मनुष्य में पायी जाती है। आज से लाखों साल पहले की स्थिति बताने का कोई साधन नहीं

था। कि भाषा की उत्पति कैसे हुई, यह प्रश्न लगभग वैसा ही है जैसे–मनुष्य की उत्पति, अतः अब तक कोई समुचित और स्वीकार्य समाधान नहीं मिलने से आधुनिक भाषाविज्ञान ने इस समस्या पर विचार करना बन्द कर दिया है। कई विज्ञानों ने इस बिषय पर विचार किया है, उनके सिद्धान्तों का ऐतिहासिक महत्त्व है, कम-से-कम इतना तो पता चलता है।

1. दिव्योत्पति सिद्धान्त

ईश्वरवादी प्रत्येक कार्य-कलाप,यहाँ तक सृष्टि का भी सम्बन्ध दिव्य शक्ति से मानते है। उनका मानना है कि ईश्वर मनुष्य को उत्पन्न कर सकता है तो भाषा क्यों नहीं। मनुष्य जब भी उत्पन्न हुआ होगा तो अपनी सम्पूण विशेषताओं के साथ इसलिए वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक शरीरिक सौष्ठव, आंगिक स्वच्छन्दता और विकसित चेतना है।

समीक्षाः– इस सिद्धान्त में आपत्ति यह है कि यदि मानव-भाषा ईश्वर-प्रदत्त है तो उसमें इतना भेद क्यों अन्य पशुओं की भाषा तो संसार में एक ही है। सभी देशों के कुत्ते एक-सा भौंकते है, घोड़े एक समान ही हिनहिनाते है, अन्य पशु-पक्षियों की बोली में भी एकरूपता दीखती है, फिर, वह एकरूपता मनुष्य की बोली में क्यों नहीं पायी जाती है। अतः स्पष्ट है कि यह मत वैज्ञानिक दृष्टि से अग्राह्य है।

2. संकेत सिद्धान्त

कुछ विद्वानों का मत है कि आरम्भ में मनुष्य भी पशुओं के समान सिर, आँख, हाथ, पैर आदि अंगों को चलाकर अपना अभिप्राय व्यक्त किया करता करता था, किन्तु इससे उसका अभिप्राय पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता था इस असुविधा को दूर करने के लिए मनुष्य ने पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा ध्वन्यात्मक भाषा को जन्म दिया।

समीक्षाः– यह सिद्धान्त मान लेता है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य को भाषा नहीं मिली थी तो उसकी आवश्यकता का अनुभव मनुष्य को कैसे हुआ? आज भी बन्दरों या बैलों को उसकी आवश्यकता का अनुभव कहाँ हो रहा है? यदि होता तो वे भी कोई महासभा करके अपने लिए एक भाषा बना लेता और अपने विचारों को अधिक पूर्णता से व्यक्त कर पाते। अतः अनेक शंकाएँ हैं, जिनका समाधान इस सिद्धान्त से नहीं होता।

3. रणन सिद्धान्त

इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत प्लेटो ने किया था, किन्तु इसको पल्लवित मैक्समूलर ने। रणन-सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ में एक प्रकार का रहास्यात्मक नैसर्गिक सम्बन्ध है। संसार में प्रत्येक वस्तु की अपनी विशिष्ट ध्वनि हुआ करती है, जो किसी वस्तु से आहत होने पर व्यक्त हो जाती है। उदाहरणार्थ - यदि हथौड़े से किसी धातु, लकड़ी, ईंट, पत्थर, शीशे आदि पर आघात करने पर विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होंगी, जिसे सुनकर कोई भी पहचान सकता है।

समीक्षा:– यह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में नैसर्गिक सम्बन्ध मानता है, जो तर्कसंगत से अधिक रहस्यात्मक है। जैसे–जादूगर अपनी जादू से पलक मारते कुछ कर दिखता है,वैसे ही बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क होते ही मनुष्य शब्द बनता चला गया और सारे शब्द निष्पन हो गये।

4. श्रमध्वनि सिद्धान्त

शारीरिक श्रम करते समय स्वभावत: श्वांस-प्रश्वांस की गति तीव्र हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप पेशियों का ही नहीं स्वर-तन्त्रियों का भी आकुंचन-प्रसारण होने लगता है और उनका कम्पन बढ़ जाता है। अत: कुछ ध्वनियाँ अनायास निकलने लगती हैं। उदाहरणार्थ - कपड़ा धोते समय धोबी 'छियो-छियो' इसी तरह पालकी ढ़ोते समय कहार, नाव खेते समय मल्लाह, रोलर खींचते मजदूर किसी-न-किसी प्रकार की ध्वनि करते हैं।

समीक्षा:– आवेगबोधक ध्वनियों के समान इन ध्वनियों में सार्थकता का अभाव है। छियो-छियो, हो-हो से कोई अर्थ नहीं निकलता। आवेगबोधक ध्वनियों का सम्बन्ध भाव की तीव्रता से और श्रमध्वनियों का शारीरिक क्रिया से, अन्यथा तात्विक दृष्टि से दोनों का अर्थ शून्य है। निरर्थक ध्वनियों से सार्थक भाषा की उत्पति की कल्पना अयुक्तिसंगत है।

5. अनुकरण सिद्धान्त

बोउ-वोउ, भों-भों का अंग्रेजी रूपान्तर है। इस सिद्धान्त का नाम मैक्समूलर ने विनोद में रख दिया इस सिद्धान्त का वास्तविक नाम 'अनोमेटोपीक थियरी' है। हिन्दी में इसके लिए शब्दानुकरणमूलतावाद चला है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं का नामकरण उत्पन्न होने वाली प्राकृतिक ध्वनियों के आधार

पर हुआ है। अर्थात जिस वस्तु से जैसी ध्वनि उत्पन्न हुई उसी के अनुकरण पर नाम रख दिया गया। जैसे– का-का रटने वाले को काक, कू-कू कूकने वाली को कोकिल आदि।

समीक्षा:– यह सिद्धात मनुष्य को वाणी-विहीन मान लेता है और उसकी भाषा का आरम्भ पशु-पक्षियों या प्राकृतिक वस्तुओं की ध्वनियों के अनुकरण पर सिद्ध करता है। परिणमस्वरूप मनुष्य पशु-पक्षियों से हीन कोटि का जीव सिद्ध होता है। जिसमें ध्वनि उत्पन्न करने की सम्भावनाएँ ही नहीं वह ध्वन्यात्मक अनुकरण करने में कैसे समर्थ हो सकता है।

6. संगीत सिद्धान्त

आदिम मानव भावुकता के क्षणों में संगीतात्मक ध्वनियाँ उत्पन्न करता रहा होगा बाद में इन्हीं संगीतात्मक ध्वनियों से अर्थ का योग हुआ होगा और उससे भाषा का विकास से उच्चारण के अवयवों के द्वारा अभ्यास की बात कहकर समर्थन किया है।

समीक्षा:– भावुक क्षणों में मनुष्य की संगीतात्मक प्रवृति का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता तो फिर गुनगुनाने से अक्षर और शब्द तथा बाद में भाषा कैसे विकसित हुई। कहना नहीं होगा कि संगीत सिद्धान्त भी भाषा की उत्पति के प्रश्न के अन्य कल्पनाओं के समान एक कल्पना है। इसमें वैज्ञानिकता या तर्कपूर्ण विवेचन का सर्वथा अभाव है।

निष्कर्ष- इन सिद्धान्तों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि इनके उपस्थापकों ने तथ्यान्वेषण से अधिक कल्पना से काम लिया है। यह समस्या कब सुलझेगी, यह सन्दिग्ध है। इसलिए आधुनिक भाषाविज्ञान इस पर विचार-विमर्श करना भी समय का अपव्यय मानता है।

10

हिंदी की उपभाषाएँ

भारत का उत्तर और मध्य क्षेत्र बहुत समय पहले से हिंदी-क्षेत्र नाम से जाना जाता है। हिंदी-प्रयोग-क्षेत्र के विस्तृत होने के कारण अध्ययन सुविधा के लिए उसे विविध वर्गो में विभक्त किया गया है। जॉर्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने हिंदी के मुख्य दो उपवर्ग बनाए हैं - (1) पश्चिमी हिंदी, (2) पूर्वी हिंदी। उन्होंने बिहारी को अलग भाषा के रूप में व्यवस्थित किया है।

हिंदी भाषा के ऐतिहासिक और स्रोत-आधार पर अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश की शौरसेनी, अर्धमागधी,मागधी और खस शाखाओं से हिंदी का विकास विविध क्षेत्र में हुआ है। इसे मुख्यत: पाँच उपवर्गो में विभक्त कर सकते हैं - पश्चिमी हिंदी, 2. पूर्वी हिंदी, 3. बिहारी हिंदी, 4. राजस्थानी हिंदी, 5. पहाड़ी हिंदी।

पश्चिमी हिंदी

इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। पश्चिमी हिंदी का क्षेत्र उत्तर भारत में मध्य भारत के कुछ अंश तक फैला है। अर्थात् उत्तरांचल प्रदेश के हरिद्वार, हरियाणा से लेकर उत्तर प्रदेश के कानपुर के पश्चिमी भाग तक है। आगरा से लेकर मध्य क्षेत्र ग्वालियर और भोपाल तक है। क्षेत्र-विस्तार के कारण पश्चिमी हिंदी में पर्याप्त विविधता दिखाई देती है। इसमें मुख्यत: पाँच बोलियों के रूप मिलते हैं।

कौरवी - प्राचीनकाल में इस क्षेत्र को कुरू प्रदेश कहते थे। इसी आधार पर इसका कौरवी नाम पड़ा है। इसे पहले खड़ी-बोली नाम भी दिया जाता था। अब खड़ी-बोली हिंदी का पर्याय रूप है। खड़ी-बोली नामकरण के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि खड़ापन (खरेपन) शुद्धता के आधार पर है, तो कुछ भाषाविदों का कहना है कि खड़ी-पाई (आ की मात्रा 'ा') के प्रयोग (आना, खाना,चलना, हँसना) आधार पर खड़ी-बोली नाम पड़ा है।

वर्तमान समय में इसका प्रयोग दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फर नगर, रामपुर, बिजनौर, सहारनपुर (उ.प्र.) हरिद्वार,देहरादून (उत्तरांचल), यमुना नगर, करनाल, पानीपत (हरियाणा का यमुना तटीय भाग) में होता है।

कौरवी की विशेषताएँ – क्रिया रूप आकारांत होता है, यथा - आना, खाना, दौड़ना, हँसना, फैलना और सींचना आदि।

कर्ता पर उपसर्ग 'ने' का प्रयोग स्पष्ट रूप में होता है।

कहीं-कहीं पर 'न' के स्थान पर 'ण' ध्वनि का प्रयोग मिलता है।

इसमें तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुलता है।

अरबी और फारसी के शब्द यत्र-तत्रमिलते हैं।

वर्तमान हिंदी का स्वरूप इसी बोली को आधार मान कर विकसित हुआ है। हिंदी को राजभाषा, राष्ट्रभाषा औरजनभाषा का रूप देने में इस बोली की विशेष भूमिका है।

ब्रजभाषा - ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। हिंदी साहित्य के मध्यकाल अर्थात् भक्ति और रीतिकाल में इस भाषा में पर्याप्त सहित्य रचा गया है। उस काल में अवधी और ब्रज में ही मुख्यत: रचना होती थी। रीतिकाल ब्रजभाषा ही रचना की आधार भाषा थी। इसीलिए इसे हिंदी के रूप में स्वीकृति मिली थी। विशेष महत्त्व मिलने के कारण ही 'ब्रज बोली' कहना अनुकूल नहीं लगता वरन् 'ब्रजभाषा' कहना अच्छा लगता है।

इसका केन्द्र स्थल आगरा और मथुरा है। वैसे इसका प्रयोग अलीगढ़ और धौलपुर तक होता है।हरियाणा के गुड़गाँव और फरीदाबाद के कुछ अंश और मध्य प्रदेश के भरतपुर और ग्वालियर के कुछ भाग में ब्रज का प्रयोग होता है।

इसकी कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं –

पद-रचना में ओकार और औकार बहुला रूप है, जैसे–

खाया-खायौ, गया-गयो-गयौ।

बहुवचन में 'न' का प्रयोग होता है, यथा - लोग-लागनय बात-बातन।
'उ' विपर्यय रूप मिलता है, जैसे- कुछ-कछु।
संबंध कारकों के विशेष रूप मिलते हैं -
मेरो, तेरो, हमारो, तिहारो, आदि।
तद्भव शब्दों की बहुलता है।

वर्तमान समय में अरबी, फारसी के साथ अंग्रेजी शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।इसके प्रमुख कवि हैं - सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, केशव, बिहारी, भूषण और रसखान आदि।हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में ब्रज की बलवती भूमिका रही है।

हरियाणवी - इसे बाँगारू या हरियानी नाम भी दिया जाता है। किन्तु जब हरियाणवी ही सर्वप्रचलित और मान्य हो गया है। हरियाणा प्रदेश का उद्भव और नामकरण बोली के आधार पर हुआ है।हरियाणवी हरियाणा के सभी जिलों में बोली जाती हैं। हरियाणवी और कौरवी में पर्याप्त समानता है। हरियाणा की सीमा उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पंजाब और राजस्थान से लगी हुई है। इस प्रकार इसके सीमावर्ती क्षेत्रों में निकट की बोली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रभाव के साथ हरियाणवी विशेष चर्चा हेतु इसे सात उपवर्गो में विभक्त कर सकते हैं।

केन्द्रीय हरियाणवी - इसका केन्द्र रोहतक है। सामान्य उदाहरण देने हेतु प्रायः इसी रूप का उल्लेख किया जाता है। 'णकार' बहुला रूप होने के कारण 'न' के स्थान पर प्रायः 'ण' का प्रयोग किया जाता है। 'ल' के स्थान पर 'ळ' विशेष ध्वनि सुनाई देती है, यथा - बालक-बालक क्रिया 'है' के स्थान पर 'सै' का प्रयोग होता है।

ब्रज हरियाणवी - फरीदाबाद और मथुरा के मध्य के हरियाणा के क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है। ब्रज का रंग स्पष्ट दिखाई देता है। इसमें 'ओ' ध्वनियों की बहुलता है, यथा- खायौ, खायो-गयो, गयो, नाच्यो, नाच्यौ आदि। 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग मिलता है - काला-कारा, बिजली-बिजुरी आदि।

मेवाती हरियाणवी - मेव क्षेत्र के आधार पर इसका नाम मेवाती पड़ा है। इसका केन्द्र रेवाड़ी है। इसमें झज्जर, गुड़गाँव, बावल और नूह का क्षेत्र आता है। इसमें, हरियाणवी, ब्रज और राजस्थानी का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें 'ण' और 'ल' ध्वनि की बहुलता है।

अहीरवाटी हरियाणवी – रेवाड़ी और महेन्द्रगढ़ का क्षेत्र अहीरवाल है। इसी आधार पर इसका नामकरण हुआ है। नारनौल से कोसली तक इसका स्वरूप मिलता है। इसमें मेवाती, राजस्थानी(बागड़ी) का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें ओकार बहुल रूप मिलता है, यथा– था–थो।

बागड़ी हरियाणवी – इसका क्षेत्र हिसार और सिरसा है। भिवानी जिले का पर्याप्त क्षेत्र इस बोली के अन्तर्गत आता है। इसे केन्द्रीय हरियाणी और राजस्थान (बागड़ी) का मिश्रित और विकसितरूप मान सकते हैं। बहुवचन रचना में आँ' प्रत्यय का योग मिलता है, यथा– बात–बाताँ। लोपका बहुल रूप सामने आता है, जैसे–अहीर–हीर, अनाज ठाना–नाज, उठाना।

कौरवी हरियाणवी – कौरवी क्षेत्र से जुड़े हरियाणा के भाग में इस उपबोली का रूप मिलता है। यमुना नगर, कुरूक्षेत्र, करनाल और पानीपत के कुछ भाग में इसका प्रयोग होता है। आकारांतशब्दों का बहुल प्रयोग मिलता है, यथा– खाना, धोना, सोना आदि।

अबदालवी हरियाणवी– अम्बाला इसका मुख्य केन्द्र है। इस उपबोली पर पंजाबी भाषा का स्पष्ट प्रमुख दिखाई देता है। इसमें महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण हो जाती है– हाथ–हात, साथ–सात। लोप की बहुलता भी दिखाई देती है– कृपया–कृप्या, मिनट–मिन्ट।

कन्नौजी – कन्नौजी नामकरण कन्नौज क्षेत्र के नाम से हुआ है। इसका प्रयोग क्षेत्र फर्रूखाबाद, हरदोई,शाहजहाँपुर, पीलीभीत हैं इटावा और कानपुर के पश्चिमी भाग में भी इसका प्रयोग होता है। इसका क्षेत्र अवधी और ब्रज के मध्य है। इस पर ब्रज का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है।

बुंदेली – बुंदेलखंड में बोली जाने के कारण इसे बुंदेली बोली की संज्ञा दी गयी हैं इसके प्रयोग क्षेत्र में झांसी, छतरपुर ग्वालियर, भोपाल, जालौन का भाग आता है। इसमें और ब्रज बोली में पर्याप्त समानता है।

पूर्वी हिंदी

पूर्वी हिंदी का उद्‌भव अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पश्चिमी हिंदी के पूर्व में स्थित होने के कारण इसे पूर्वी हिंदी नाम दिया गया है। इसका प्रयोग प्राचीन कोशल राज्य के उत्तरी–दक्षिणी क्षेत्र में होता है। वर्तमान समय में इसे उत्तर प्रदेश के कानपुर, लखनऊ, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, जौनपुर, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़,मिर्जापुर, इलाहाबाद, मध्य प्रदेश के जबलपुर, रीवा आदि जिलों से

संबंधित मान सकते हैं। यह इकार,उकार बहुल रूप वाली उपभाषा है। इसमें तीन बोलियाँ हैं - अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।

अवधी – 'अबध' क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण इसे 'अवधी' नाम से अभिहित किया गया है। इसका प्रयोग गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, रायबरेली, बाराबंकी, इलाहाबाद, लखनऊ, जौनपुर आदि जिलों में होता है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं –

इसमें 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है- शंकर-संकर, शाम-साम आदि।

इसमें 'व' ध्वनि प्राय: 'ब' के रूप में प्रयुक्त होती है, जैसे–वन-बन, वाहन-बाहन आदि। ण् 'इ' और 'उ' स्वरों का बहुल प्रयोग होता है। इ आगम-स्कूल-इस्कूल, स्त्री-इस्त्री उ आगम-सूर्य-सूरज-सूरूजु

'ण' ध्वनि के स्थान पर प्राय: 'न' का प्रयोग होता है।

ऋ के स्थान पर 'रि' का उच्चारण प्रयोग होता है।

भक्तिकाल में समृद्ध साहित्य की रचना हुई है। तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' और जायसी कृत 'पद्मावत' महाकाव्यों की रचना अवधी में हुई है। सूफी काव्य-धारा के सभी कवियों ने अवधी भाषा को ही अपनाया। समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

बघेली - इस बोली का केन्द्र रीवा हैं। मध्य प्रदेश के दमोह, जबलपुर, बालाघाट में और उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में कुछ अंश तक बघेली का प्रयोग होता है। इस क्षेत्र पर अवधी का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। कुछ विद्वानों ने बघेली को स्वतंत्रबोली न कह कर अवधी का दक्षिणी रूप कहा है। इसमें अवधी की भांति 'व' ध्वनि 'ब' के रूप मे प्रयुक्त होती है।

छत्तीसगढ़ी– 'छत्तीसगढ़' क्षेत्र से संबंधित होने के कारण इसे छत्तीसगढ़ी बोली नाम दिया गया है। वर्तमान समय में छत्तीसगढ़ प्रदेश के रायपुर, बिलासपुर क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है।इसमें कहीं-कहीं पर 'स' ध्वनि 'छ' हो जाती है। अल्पप्राण ध्वनियों के महाप्राणीकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

बिहारी हिंदी– बिहार प्रदेश में प्रयुक्त होने के आधार पर इसे बिहारी नाम दिया गया है। इसका उद्भव मागधी अपभ्रंश भाषा से हुआ है। ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण में बिहारी को हिंदी से अलग वर्ग में व्यवस्थित किया है। ये भाषाएँ आकार बहुल हैं। बहुवचन बनाने हेतु नि या

न का प्रयोग होता है, यथा- लोग-लागनि, लोगन सर्वमान के विशेष रूप प्रयुक्त होते हैं- तोहनी हमनी आदि। बिहारी की अनेक प्रवृत्तियाँ पूर्वी हिंदी के समान मिलती हैं – इसके मुख्यत: तीन बोली भागो में विभक्त करते हैं।

भोजपुरी - भोजपुरी निश्चय ही बिहारी हिंदी का सबसे विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त रूप है। भोजपुर बिहार का एक चर्चित स्थान है। इसी के नाम पर इसे भोजपुरी कहते हैं। इसका केन्द्र बनारस है। भोजपुरी का प्रयोग उत्तर प्रदेश के गाजीपुर, बलिया, बनारस, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर जिलों में पूर्ण या आशिंक रूप में और बिहार के छपरा, चम्पारन तथा सारन में प्रयोग होता है। इस भाषा में अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

इसमें 'र' ध्वनि का प्राय: लोप हो जाता है, यथा- लरिका-लरका (लड़का), करया-कइया (काला)'ल' की ध्वनि की प्रबलता दिखाई देती है, जैसे–खाइल, चलल, पाइल आदि।इकार और उकार बहुल रूप में मिलता है।

समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

मैथिली -

मिथिला क्षेत्र की भाषा होने के कारण इसे 'मैथिली' नाम दिया गया है। इसका प्रयोग दरभंगा, सहरसा, मुजफ्फरपुर, मुंगेर और भागलपुर में होता है। इसमें शब्द स्वरांत होते है।

इसमें संयुक्त स्वरों (ए, ऐ, ओ, औ) के दीर्घ स्वर के साथ ह्रस्व रूप भी प्रयुक्त होता है।इसमें सहायक क्रियाओं के विशेष रूप मिलते हैं, यथा- छथि, छल आदि। इ, उ बहुला रूप अवधी के ही समान हैं।

मैथिली साहित्य में तत्सम शब्दाबली का आकर्षक प्रयोग साहित्यकारों के संस्कृत ज्ञान का परिचायक है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य और आकर्षक साहित्य रचा गया है। मैथिल कोकिल विद्यापति मैथिली भाषा को अपनाने वाले सुनाम धन्य कवि हैं।

मगही -

'मागधी' अपभ्रंश से विकसित होने और 'मगध' क्षेत्र में प्रयुक्त होने के आधार पर इसे मगही कहते हैं। इसके स्वरूप और भोजपुरी के स्वरूप में बहुत कुछ समानता है। इसमें सहायक 'ह' से हकी, हथी, हलखिन आदि का रूप प्रयुक्त होते है। कारक-चिह्नों में सामान्य के साथ अतिरिक्त चिह्न भी प्रयुक्त होते

हैं, यथा- संप्रदान-ला, लेन, आधिकरण-मों। शब्दों में तद्भव या बहुल तद्भव रूप मिलते हैं, यथा- बच्चे के लिए 'बुत:' का प्रयोग।उच्चारण में अनुनासिक बहुल रूप हैं।

राजस्थानी हिंदी

राजस्थानी प्रदेश के नाम पर विकसित हिंदी को यह नाम मिला है। इसका उदगम शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके प्रारंभिक रूप में डिंगल का प्रबल प्रभाव रहा है। इसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ब्रजभाषा के समान हैं।

इसमें टवर्गीय ध्वनियों की प्रधानता होती है, यथा- ड, ड़, ण, ळ। महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राणीकरण होने की भी प्रवृत्ति है।बहुबचन परिवर्तन में मुख्यत: 'आँ' का प्रयोग होता है। तद्भव शब्दावली का प्रबल रूप मिलता है। राजस्थानी में एक ओर वीर रस की ओजप्रधान रचनाएँ मिलती है, तो श्रृंगार रसो, काव्य-ग्रंथो की रचना हुई है। इसमें समृद्ध साहित्य और लोक-साहित्य सृजन क्रम चल रहा है।

राजस्थानी में चार प्रमुख बोलियों के रूप मिलते हैं- मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी और मालवी।

मेवाती –

मेव जाति के नाम पर इस बोली का नाम 'मेवाती' रखा गया है। इसका प्रयोग राजस्थान के अलवर और भरतपुर के उत्तर-पश्चिम भाग में होता है। हरियाणा के गुड़गाँव के कुछ भाग में भी इस बोली का रूप देखा जा सकता है। ब्रज क्षेत्र से लगा होने के कारण इस पर ब्रज का प्रभाव होना स्वाभाविक है। मेवती में समृद्ध लोक-साहित्य है।

जयपुरी –

इस बोली का केन्द्र जयपुर है, इसलिए इसे जयपुरी नाम दिया गया है। इसका प्रयोग पूर्वी राजस्थान, जयपुर, कोटा और बूँदी में होता है। इस बोली पर ब्रज का प्रभाव दिखाई देता है। परसर्गो में कर्म-संप्रदान-नै, कै, करण-अपादान-सूं, सौ, अधिकरण-मै, मालैं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

मारबाड़ी –

इस बोली को 'मेबाड़' क्षेत्र के नाम पर 'मेबाड़ी' कहा गया है। राजस्थान के पश्चिमी भाग में प्रयुक्त होने के कारण इसे पश्चिमी राजस्थान नाम भी दिया जाता है। इसका मुख्य क्षेत्र जोधपुर है। पुरानी मारवाड़ी डिंगल कहते थे। मारवाड़ी व्यवसाय की दृष्टि से राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध हैं। कवि नरपतिनाल्ह, चन्दबरदाई इसी से संबंधित रहे हैं। मीराबाई की रचनाओं में यह रूप देख सकते हैं।इसमे 'स' ध्वनि 'श' हो जाती है। अनुनासिक ध्वनि का बहुल प्रयोग। एवं तद्भव शब्दावली का बहुल रूप है।

मालवी–

मालवा क्षेत्र से संबंधित होने के आधार पर इसे मालवी नाम मिलता है। राजस्थान के दक्षिण में प्रयुक्त होने से दक्षिण नाम भी दिया जाता था। इसके प्रयोग क्षेत्र में उज्जैन, इन्दौर और रतलाम आते हैं। इसमें 'ड़' ध्वनि का विशेष प्रयोग होता है।इसमें 'ण' ध्वनि नहीं है। विभिन्न ध्वनियों का अनुनासिक रूप सामने आता है। इसमें समृद्ध लोक–साहित्य मिलता है।

पहाड़ी हिंदी

पहाड़ी हिंदी का उद्भव 'खास' अपभ्रंश से हुआ है। पहाड़ी क्षेत्र में यातायात की शिथिलता के कारण भाषा में विविधता का होना स्वामाविक हैं। अध्ययन सुविधा के लिए इसे तीन उपवर्ग में विभक्त किया जाता है – पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी, पूर्वी पहाड़ी।

पश्चिमी पहाड़ी–

इसका केन्द्र शिमला है। इसमें चंबाली, कुल्लई, क्योंथली आदि मुख्य बोलियाँ आती है। यहाँ की बोलियों की संख्या तीस से अधिक है। ये मुख्यत: टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं। यहाँ हिंदी का मूलरूप हिंदी में ही मिलता है।

मध्य पहाड़ी–

नेपाल पूर्वी पहाड़ी का केन्द्र है। नेपाली, गुरखाली, पर्वतिया और खसपुरा नाम भी दिए जाते है। इसमें समृद्ध लोक–साहित्य और संक्षिप्त–साहित्य भी

मिलता है। नेपाल के संरक्षण मिलने के आधार पर इसका साहित्यिक रूप में विकास हो रहा है। इसकी लिपि नागरी है।

दक्खिनी हिंदी

दक्खिनी शब्द दक्षिण का तद्भव शब्द है। आर्यो का आगमन जब सिंध, पंजाब प्रांत में हुआ, तो यह भाग दाहिने हाथ की ओर था, उसे दक्षिण कहा गया है। हिंदी साहित्य के इतिहास पर प्राचीनकाल से यदि विचार करें, तो भारत में प्रचलित विभिन्न लिपियों में हिंदी साहित्य मिलता है। गुजरात और महाराष्ट्र में हिंदी का प्रयोग हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र के समान ही होता रहा है। मध्य युग में, हिंदी दक्षिण के प्रांतो में आर्कषक रूप में प्रयुक्त होती थी।

अकबर के समय में दक्खिन क्षेत्र में मालवा, बरार, खानदेश, औरंगाबाद, हैदराबाद, मुहम्मदाबाद और बीजापुर आ गए हैं। इस प्रकार दक्खिन क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण इसे दक्खिनी हिंदी नाम दिया गया है। उद्भव-विकास—चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली का शासक मुहम्मद-बिन-तुगलक था। उन्होंने दक्षिण की शासन व्यवस्था को अनुकूल रूप देने के लिए अपनी राजधानी को दिल्ली से दौलताबाद करने का निर्णय लिया। मुहम्मद-बिन-तुगलक के जाने से पूर्व निजामुद्दीन चिश्ती ने 400 सूफी पहले ही दक्षिण भेज दिए थे। तुगलक अपने साथ सूफी फकीर भी ले गया। वहाँ शासन व्यवस्था अनुकूल होने पर राजधानी को पुनः दौलताबाद से दिल्ली लाने का निर्णय लिया। उस समय आज की तरह-यातायात सुविधा न थी। इस प्रकार अनेक सूफी-संत और सिपाही वहाँ से लौटे ही नहीं। इस निर्णय से तुगलक को 'पागल' की उपाधि अवश्य मिली,किन्तु इससे दक्षिण में प्रभावी प्रचार हुआ। दिल्ली से जाने वालों की भाषा खड़ी-बोली, ब्रज, अवधी, पंजावीआदि के मिश्रित रूप में थी। वहाँ हिंदी का प्रचार होता गया। अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, जहाँगीर,शाहजहाँ और औरंगजेब के समय तक दक्खिनी हिन्दी विकसित होती गई है। दक्खिनी भाषा के स्वरूप के विषय में डॉ. परमानंद पांचाल का कथन इस प्रकार है - ''दक्खिनी हिंदी का वह रूप है, जिसका विकास 14 वीं सदी से अठारहवीं सदी तक दक्षिण के बहमनी,कुतुबशाही और आदिलशाही आदि राज्यों के सुलतानों के संरक्षण में हुआ था। यह मूलतः दिल्ली के आस-पास की हरियाणवी एवं खड़ी-बोली ही थी, जिस पर ब्रज, अवधी और पंजाबी के साथ मराठी, सिंधी, गुजराती और दक्षिण की सहवर्ती भाषाओं अर्थात तेलगु, कन्नड़ और पुर्तगाली आदि का भी

प्रभाव पड़ा था। और इसने अरबी, फारसी, तुर्की तथा मलयालम आदि भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में ग्रहण किये थे। इसके लेखक और कवि प्रायः इस्लाम के अनुयायी थे। इसे एक प्रकार से सबसे मिश्रित भाषा कहा जा सकता है।'' डा. श्रीराम शर्मा के अनुसार, बरार, हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर में ही दक्खिनी हिंदी भाषा का उद्‌भव विकास हुआ है। इसमें अव्यय शब्द 'और' के स्थान पर 'होर' का प्रयोग होता है।

नकारात्मक शब्द 'नही' के लिए 'नक्को' का प्रयोग होता है।

विविध भारतीय भाषाओं के तत्सम और तत्सम शब्दों के साथ अरबी, फारसी शब्दों का प्रभावी प्रयोग मिलता है। शब्द रूप में पर्याप्त विविधता मिलती है, यथा- एक-येक, यकी, यक्की, इक आदि दक्खिनी हिंदी का भाषायी स्वरूप, भक्ति को तीन संत काव्य की भाषा से बहुत कुछ मेल खाता है-

''वे अरबी बोल न जाने,,
न फारसी पछाने
यूँ देखत हिंदी बोल
पन मानी है नफ्तोल''
– मीराँजी शम्सुल उश्शाक
''ऐब न राखे हिंदी बोल,
माने तो चख देख घंडोल।''
– शेख बुराहानुद्‌दीन जानम
''तुलना-
''लूंचत मूंडत फिर फोकट तीरथ करे या हज।
था।न देख जे भान भई मूरख भज।।''
मीरँजी शम्सुल उश्शाक
''मूड़ मड़ाइ हरि मिले, तो सब कोउ लेठ मुड़ाय।
बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुंठ जाय।।''

कबीर

दक्खिनी हिंदी में समृद्ध साहित्य है। इसके कुछ प्रतिनिधि साहित्यकार हैं-उश्शक, शेख बुराहानुददीन जानम, काजी महमूद बहरी, गुलाम अली, और मुहम्मद अमीन आदि।निश्चय ही दक्खिनी हिंदी में हिंदी भाषा का एक विशेष स्वरूप है और इसमें समृद्ध साहित्य है। इसलिए हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के इतिहास में दक्खिनी हिंदी का महत्त्व स्वतः सिठ्ठ है।

पश्चिमी और पूर्वी हिंदी की तुलना

हिंदी भाषा के विभिन्न छः भागों-पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी हिंदी, राजस्थानी हिंदी, पहाड़ी हिंदी और दक्खिनी हिंदी में पूर्वी और पश्चिमी हिंदी का विशेष महत्त्व है। हिंदी भाषा के मध्य युग में इन्ही दो वर्गो की अवधी और ब्रज दो बोलियों को हिंदी के रूप में मान्यता मिली थी। इसी में काव्य-रचना होती रही है। भक्तिकाल में अवधि और ब्रज दोनों भाषाओं को काव्य-सृजन में अपनाई जाती रही हैं और रीतिकाल में ब्रजभाषा प्रयुक्त होती थी। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' महाकाव्य की रचना अवधी में की है। जायसी ने 'पदमावत' की रचना ठेठ अवधी में की है।'प्रेमाश्रयी काव्य' अवधी में ही लिखा गया है। भक्ति काल के समस्त अष्टछाप कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया है,तो रीतिकाल के केशव, घनानन्द, बिहारी आदि कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनाया है।

तुलनात्मक अध्ययन

पश्चिमी हिंदी की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई, तो पूर्वी हिंदी का उद्‌भव अर्द्ध-मागधी से हुआ।

पश्चिमी हिंदी की पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं-कौरवी, हरियाणवी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली। पूर्वी हिंदी की तीन प्रमुख बोलियाँ है - अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।

पश्चिमी हिंदी निकटवर्ती भाषा पंजाबी से यत्र-तत्रप्रभावित लगती है और पूर्वी हिंदी में बिहारी हिंदी से पर्याप्त समानता मिलती है।

पूर्वी हिंदी में 'इ' और 'उ' का बहुल रूप में प्रयुक्त पश्चिमी हिंदी में 'ई' और 'ऊ' के प्रयोग की प्रमुखता है।

पश्चिमी हिंदी में संयुक्त स्वरों का स्वतंत्र रूप में उच्चारण होता है, किन्तु पूर्वीहिंदी में पूर्ववत रहती है।

पूर्वी हिंदी में संयुक्त स्वरों का स्वतंत्र रूप में उच्चारण होता है, यथा-और-अउर, ऐनक-अइनक। पश्चिमी हिंदी में संयुक्त स्वर का बहुल रूप में प्रयोग होता है।

पूर्वी हिंदी में 'ल' के स्थान पर यदा-कदा 'र' का प्रयोग होता है, यथा-केला-केरा, फर-फल आदि। पश्चिमी हिंदी में 'ल' का प्रयोग होता है।

पूर्वी हिंदी में 'श' ध्वनि प्रायः 'स' के रूप में प्रयुक्त होती है, यथा-शंकर-संकर, शेर-सेर। पश्चिमी हिंदी में प्रायः मूल रूप प्रयुक्त होता है।

पूर्वी हिंदी में 'व' ध्वनि प्रायः 'ब' के रूप में प्रयुक्त होता है, यथा-वन-बन, आशर्वाद-आसीर्वाद आदि। पश्चिमी हिंदी में प्रायः मूल रूप प्रयुक्त होता है।

पूर्वी हिंदी में कारक-चिह्न 'ने' का प्रयोग विरल रूप में होता है, जबकि पश्चिमी हिंदी का मुख्य चिह्न है।

पूर्वी हिंदी में उत्तम पुरुष सर्वनाम में एकवचन के लिए 'हम' और बहुवचन के लिए 'हम' या 'हम सब'प्रयुक्त होते हैं। जबकि पश्चिमी हिंदी में प्रायः एकवचन के लिए 'मैं' और बहुवचन के लिए 'हम' का प्रयोग होता है।

पूर्वी हिंदी में क्रिया के साथ यत्र-तत्र 'ब' का प्रयोग होता है-चलब, करब आदि तो पश्चिमी हिंदी (ब्रज)में ओकार रूप में सामने आता है - चलना-चलनों, करना-करनो।

क्रिया के भविष्यत् काल के रूप निर्धारण में ग, गी, गे के प्रयोग पश्चिमी हिंदी में मिलते हैं, किन्तु पूर्वी हिंदी में रूप-विविधता है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि हिंदी की प्रमुख उपभाषाओं-पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी की बोलियाँ की शब्द-संपदा में बहुत कुछ समानता है, वहीं उनकी ध्वन्यात्मक, शब्द-संरचनागत और व्याकरण आधार पर पर्याप्त भिन्नता है। यह भिन्नता ही संबंधित बोलियों की अपनी विशेषताएँ हैं। हिंदी की इन दोनों उप-भाषाओं और उनकी बोलियों का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

हिन्दी

हिन्दी की भाषा का नाम हिन्दी है। इसी अर्थ में फिरदौसी और अलबरूनी (11वीं शती), अमीर खुसरो (14वीं शती) और अबुल फजल (17वीं शती), आदि ने हिन्दी शब्द को ग्रहण किया है। अमीर खुसरो ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'मैं' हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ और हिन्दवी में बात करता हूँ। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि मध्य काल में हिन्दी या हिन्दवी को पूरे भारत की भाषा समझा जाता था। इसीलिए हिन्दी की बोलियों में देहलवी, बंगाली, मुल्तानी, मारवाडी, सिन्धी, गुजराती, मरहट्टी, तिलंगी, कर्नाटकी, कश्मीरी और विलोचिस्तानी गिनाई जाती रही है, बाद में जान पड़ा कि हिन्दी सार्वदेशिक भाषा नहीं है। तब हिन्दी शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में अर्थात् मध्य भारत की भाषा के रूप में माना जाने लगा।

हिन्दी प्रदेश

हिन्दी ऐतिहासिक दृष्टि से युग-युग की मध्यप्रदेशीय भाषाओं- संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि की उत्तराधिकारिणी है। इन सब की सम्पत्ति- शब्दावली, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, साहित्य और साहित्य की विविध विधाएँ इसी भाषा की विरासत में मिली हैं। ये भाषाएँ अपने-अपने यौवन-काल में मध्यदेशीय होते हुए भी देशव्यापी रही हैं। वस्तुतः हिन्दी भी सारे देश में व्याप्त है। व्यवहार में यह राष्ट्रभाषा अवश्य है- हिन्दी पूरे हिन्द की भाषा है, परन्तु देश के मध्य से दूर के कुछ लोगों के राजनीतिक स्वार्थों के कारण राज्यों द्वारा इसे राष्ट्रभाषा की मान्यता प्राप्त नहीं हो पाई। इसलिए अभी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी का क्षेत्र सारा भारत है। वह मध्यप्रदेश की भाषा है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पश्चिम में हरियाणा और पंजाब की सीमा से लेकर पूर्व में बिहार और बंगाल के बीच की सीमा तथा उत्तर तिब्बत, चीन की दक्षिण सीमा से लेकर खंडवा, मध्यप्रदेश की दक्षिण सीमा तक हिन्दी बोली जाती है। इस लंबे-चौड़े क्षेत्र के अन्तर्गत हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश और बिहार सम्मिलित है। इस पूरे क्षेत्र को ही हिन्दी प्रदेश कहते हैं। हिन्दी प्रदेश के बाहर भी, किन्हीं दूर-दराज के पहाड़ी और जंगली इलाकों को छोड़कर सारे भारत में, हिन्दी बोली-समझी जाती है।

भारत की भाषाओं पर बहुत व्यापक और सर्वाधिक कार्य करने वाले विद्वान सर जार्ज ग्रियर्सन ने बीसवीं शताब्दी के शुरू में हिन्दी का क्षेत्र अम्बाला, पंजाब से लेकर पूर्व में बनारस तक और उत्तर में नैनीताल की तलहटी से लेकर दक्षिण में बालाघाट(मध्य प्रदेश) तक निश्चित किया था। इधर पचास वर्षों में ये सम्बन्ध अधिक स्पष्ट और स्थाी हो गया कि बिहारी, राजस्थानी, और पहाड़ी बोलियाँ भी हिन्दी के अन्तर्गत हैं। आज यदि वे जीवित होते तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता। धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों ने हिन्दी को एक बहुत बड़े क्षेत्र में फैलने का अवसर दिया। इन क्षेत्रों में मारवाड़ी-जयपुरी आदि(राजस्थान) में, मगही-मैथिली (बिहार) में और कुमाउनी-गढ़वाली (उत्तर प्रदेश) बोलियाँ तो है- मारवाड़ी और मैथिली अत्यंत समृद्ध भी हैं, किन्तु भाषाओं में इनका नाम नहीं गिना जाता- सब की भाषा हिन्दी ही है। इनकी अपनी कोई लिपि नहीं, साहित्य की कोई दीर्घ परम्परा नहीं, शासन द्वारा कोई मान्यता प्राप्त नहीं कोई मानक, स्वरूप नहीं, कोई सामान्य व्याकरण नहीं। अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा' में सुप्रसिद्ध भाषा विज्ञानी डा. सुनीतिकुमार

चटर्जी ने राजस्थानी को हिन्दी कहा है। किन्तु बिहारी के बारे में कई कारणवश मौन रहे। कलकत्ता के लोग, राजस्थानी को 'मारवाड़ी हिन्दी' कहते हैं और बम्बई तथा पंजाब में बिहारी का नाम 'पूर्बिया हिन्दी' प्रचलित है। पहाड़ी के बारे में ग्रियर्सन ने बहुत पहले कबूल किया था। कि पहाड़ी नाम की कोई भाषा नहीं है, केवल वर्गीकरण की सुविधा के लिए यह नाम कल्पित किया गया है। लोकमत और व्यवहार की दृष्टि से मध्य पहाड़ी- गढ़वाली और कुमाउनी- हिन्दी की बोलियाँ हैं। संविधान में भी राजस्थानी, बिहारी या पहाड़ी नाम की कोई 'भाषा' नहीं गिनाई गई।

हिन्दी की उपभाषाएँ

ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस भूखण्ड में पाँच प्राकृतें थीं- अपभ्रंश, शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी और खस। इन्हीं प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों और फिर उनसे हिन्दी की पाँच उपभाषाओं- राजस्थानी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी हिन्दी और पहाड़ी हिन्दी का विकास हुआ।

(1) राजस्थानी हिन्दी–यह उपभाषा सारे राजस्थान में, सिन्ध के कोने में और मालवा जनपद में बोली जाती है। वर्तमान समय में राजस्थानी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है। एक युग में राजस्थानी साहित्य का बोलबाला था। चन्दबरदाई, दुरसाजी, बांकीदास, मुरारीदान, सूर्यमल्ल आदि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों के नाम प्रसिद्ध हैं। बीसलदेव रासो के 'ढोला मारूरा दूहा और बेलि क्रिसन रूक्मिणी री' आदि गौरव ग्रंथ हैं। मीरा, दादू, चरण दास, हरिदास आदि संत कवियों की वाणियाँ भी भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। गद्य साहित्य में बचनिकाओं, ख्यातों की अपनी विशाल परम्परा हैं। अधिकतर साहित्य मारवाड़ी में लिखा गया है। थौड़ा-बहुत जयपुरी में भी प्राप्त है। हिन्दी की तुलना में राजस्थानी व्याकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं- पुंल्लिंग एकवचन ओकारांत जैसे- तारो, हुक्को, धारो, बहुवचन और तिर्यक् एकवचन आकारांत होता है जैसे- तारा(कई तारे), हुक्का(अनेक हुक्के), पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग के बहुवचन के अंत में आँ होता है, जैसे- ताराँ, बादलाँ। हिन्दी 'को' के स्थान पर नै, से के स्थान पर सूँ और का, के, की के स्थान पर रो, रा, री होता है।

(2) 'बिहारी:– बिहारी की चार प्रमुख बोलियाँ हैं- भोजपुरी, मगही, मैथिली और अंगिका इनका एक वर्ग मानकर उन्हें बिहारी नाम दिया गया है।

इन बोलियों में वैषम्य अधिक और समानता कम है। इनमें जो सामान्य तत्त्व हैं भी, वे प्रायः सब पूर्वी हिन्दी में भी पाये जाते हैं, और जो भिन्न हैं वे बिहारी को एक अलग भाषा और एक सुगठित इकाई बनाने में बाधक हैं। मैथिली को छोड़कर बिहारी बोलियों का साहित्य प्रमुखतः लोक से संबद्ध है। कुछ वर्षो से भोजपुरी और आंगिका में साहित्यिक गतिविधि बढ़ने लगी है और अपनी-अपनी बोली के प्रति आस्था पनप रही है। बिहारी पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा कुछ अधिक व्यंजनांत भाषा है, जैसे- घोड़ा, भल, देखित। अक्षर के अंत में, कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर संस्कृत की तरह अ उच्चारण होता है,जैसे- कमला= कमअ्ल

(3) पहाड़ी हिन्दीः– इसके अन्तर्गत गढ़वाली और कुमाउनी हैं। इन बोलियों पर मूलतः तिब्बत, चीनी और खस जाति की अनार्य भाषाओं का प्रभाव रहा है। धीरे-धीरे इन पर व्रजभाषा और अन्य भारतीय आर्य भाषाओं का प्रभाव बढ़ता गया है और अनार्य तत्त्व क्षीण होते गये हैं। इसके फलस्वरूप ये बोलियाँ हिन्दी के अधिक निकट हो गयी हैं। पहाड़ी हिन्दी की कोई साहित्यिक परम्परा नहीं हैं। अतः इसे उपभाषा कहने में भी संकोच होता है, किन्तु यह हिन्दी का एक विशिष्ट उपवर्ग अवश्य है। इस उपवर्ग की हिन्दी में सानुनासिक स्वरों की अधिकता है। सभी स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ राजस्थानी से मिलती-जुलती हैं। व्याकरण की दृष्टि से ये ओकारबहुला बोलियाँ हैं, जैसे- संज्ञा शब्द घोड़ो, विशेषण कालो, क्रिया चल्यो। पुंल्लिंग एकवचन में ओ का बहुवचन आ अथवा कुमाउनी में न और गढ़वाली में ऊँ होता है, जैसे- घोड़ा, घोड़न, घोड़ूँ।

(4) पश्चिमी हिन्दीः– इस उपभाषा का क्षेत्र पश्चिम में अम्बाला से लेकर पूर्व में कानपुर की पूर्वी सीमा तक, एवं उत्तर में जिला देहरादून से दक्षिण में मराठी की सीमा तक चला गया है। इस क्षेत्र के बाहर दक्षिण में महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और केरल के प्रायः मुसलमानी घरों में पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप दक्खिनी हिन्दी व्याप्त है। इस उपभाषा के बोलने वालों की संख्या छह करोड़ से कुछ ऊपर है। साहित्यिक दृष्टि से यह उपभाषा बहुत संपन्न है। दक्खिनी हिन्दी व्रजभाषा और आधुनिक युग में खड़ी बोली हिन्दी का विशाल साहित्य मिलता है। सूरदास, नन्ददास, भूषण, देव, बिहारी, रसखान, भारतेन्दु, और रत्नाकर आदि के नाम सर्वविदित हैं। खड़ी बोली की परम्परा भी लम्बी है। अमीर खुसरो से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के साहित्यकारों, महावीर प्रसाद द्विवेदी, छायावादी और प्रगतिवादी तथा अद्यतन

साहित्यकारों ने खड़ी बोली हिन्दी को विकसित करने में बहुमूल्य योगदान दिया। पश्चिमी हिन्दी में उच्चारणगत खड़ापन है, अर्थात् तान में थोड़ा आरोह होता है। अ विकृत है। ऐ, औ मूल स्वर है, ड़ की अपेक्षा ड और न की अपेक्षा ण अधिक बोला जाता है।

(5) पूर्वी हिन्दी– पूर्वी हिन्दी का वही क्षेत्र है, जो प्राचीन काल में उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल था। यह क्षेत्र उत्तर से दक्षिण तक दूर-दूर तक चला गया है। इसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में अवधी और मध्य प्रदेश में बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का सारा क्षेत्र आता है, अर्थात् कानपुर से मिर्जापुर तक के और लखीमपुर की उत्तरी सीमा से दुर्ग, बस्तर की सीमा तक क्षेत्र में पूर्वी हिन्दी बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या पाँच करोड़ के लगभग है। अवधी में भरपूर साहित्य मिलता है। मंझन, जायसी, उस्मान,नूरमुहम्मद आदि सूफी कवियों का काव्य ठेठ अवधी में और तुलसी, मानदास, बाबा रामचरण दास, महाराज रघुराज सिंह आदि का रामकाव्य साहित्यिक अवधी में लिखा गया है। इस वर्ग की तीन बोलियाँ हैं- अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। समानता की दृष्टि से जितना घनिष्ठ संबंध इनमें है, उतना हिन्दी की अन्य उपभाषाओं में नहीं है। ण की जगह सदा न, और श,ष, की जगह सदा स बोला जाता है और ल के स्थान पर र का प्रयोग होता है।

❐❐❐